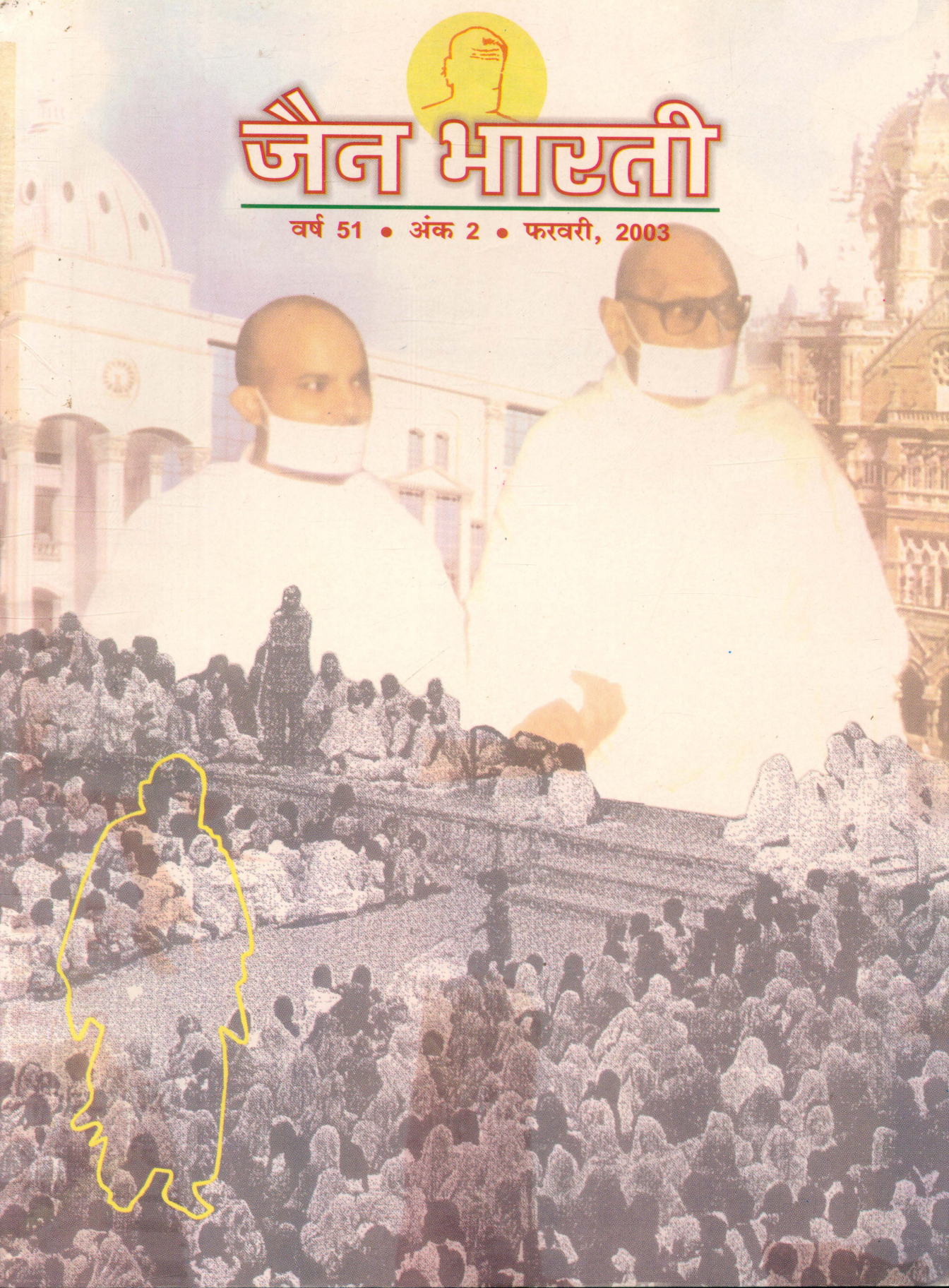

जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 2 • फरवरी, 2003

With best compliments from :

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 • फरवरी, 2003 • अंक 2

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
समस्या समाधान की प्रयोगशाला—तेरापंथ

17
प्रो. बिपनचंद्र
सांप्रदायिकता और इतिहास अध्ययन

21
डॉ. राजानन्द
अंतःकस्तूरी गंध : बहिर पंचाट

•

आवरण कोलाज
खेराज

अनुभूति

29
प्रो. कल्याणमल लोढ़ा
वाणी की अधिष्ठात्री : सरस्वती

37
कंचन शर्मा
अध्यात्म का चरमोत्कर्ष : रहस्य भावना का सहज संवाहक

39
मुनि संबोधकुमार 'कोलकाता'
मेरं शरणं गच्छामि

42
कहानी
प्रेमचंद
सवा सेर गेहूं

46
कविता
नेमिचन्द्र जैन की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
मर्यादा : परिवर्तन की शक्ति

शीलन

49
साध्वी कान्तयशा
उन्मुक्त आकाश : अपरिमेय शक्ति

52
बालकथा
यदुनाथ थत्ते
पिता की सीख

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

क्या हमारे अंदर ज्ञान नहीं? हम भारतीय एक ऐसे देश में जन्मे और पले हैं जहां ज्ञान मानवजाति के आरंभ से ही भरा हुआ रखा है। हजारों वर्षों से परंपरा से एकत्र यह ज्ञान हमारे लिए चारों ओर बिखरा है। ज्ञान के उच्चतम व्यक्तित्व आज भी हमारे बीच पैदा होते हैं जो उस राशि में कुछ-न-कुछ जोड़ रहे हैं। हमारी क्षमता खत्म नहीं हुई है, हमारी मेधा का पैनापन न तो धूमिल हुआ है, न भोथरा। इसकी ग्रहणशीलता उतनी ही वैविध्यपूर्ण है जितनी प्राचीन में थी। पर ज्ञान मुरदा है, एक बोझ जो हमारी कमर तोड़ रहा है, एक विष जो हमें धीरे-धीरे मार रहा है। इसे हमें संभालने का अवलंब और हमारे हाथों का हथियार होना चाहिए था; पर ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि प्रत्येक महान वस्तु के साथ ऐसा ही होता है कि जब वे प्रयुक्त नहीं होतीं या गलत तरीके से प्रयुक्त होती हैं, तब वे प्रयोक्ता का ही विनाश करती हैं।

हमारा ज्ञान हमारे तामसिक भार के नीचे जड़ता और नपुंसकता से अभिशप्त पड़ा हुआ है। हम सचमुच ही कल्पना करते हैं कि यदि हम विज्ञान जान जाएं, तो हम ठीक हो जाएंगे। पहले हमें सोचना चाहिए कि उस ज्ञान से, जो हमें प्राप्त था, हमने क्या किया? या उन लोगों ने, जिन्होंने विज्ञानशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया, भारत के लिए क्या किया? नकल करने के आदी और स्वतःप्रेरणा में प्रमादी, हम इंग्लैंड के तरीकों का अनुसरण करते हैं। हमारे पास शक्ति नहीं है, हम अब कहीं ज्यादा शक्ति-संपन्न जापान के लोगों की नकल करेंगे, तो क्या इससे अच्छी सफलता मिल जाएगी? योरोपीय विज्ञान जिस महान शक्ति को उत्पन्न करता है, वह शक्तिशाली के हाथ का शस्त्र है, वह भीमसेन की गदा है, एक सींकिया आदमी उसे लेकर अपने को कुचलने के अलावा और क्या करेगा?

—शिवप्रसाद सिंह

'उत्तर योगी श्री अरविन्द' से

चिरकाल तक रहे वरदहस्त हम सब पर इस कालजयी व्यक्तित्व का

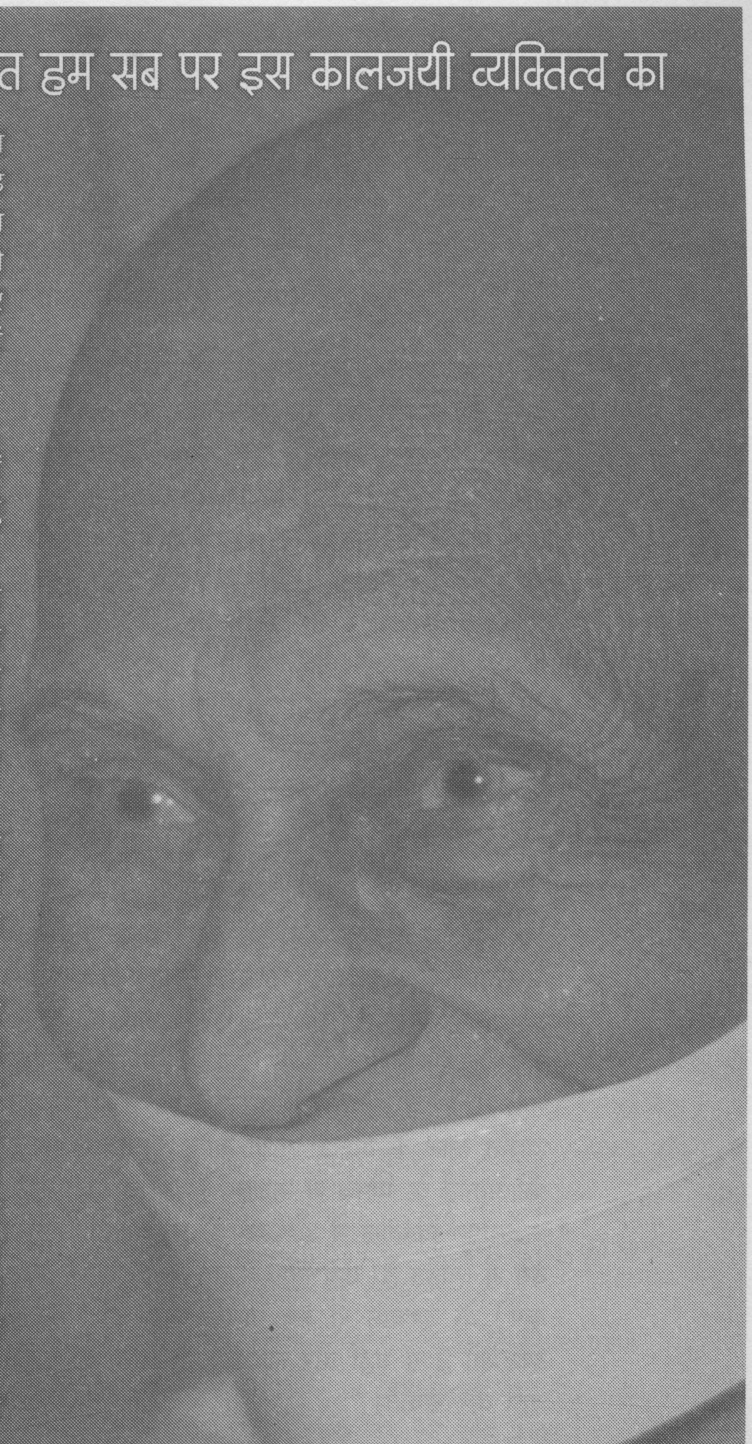

'मैं मुनि हूं। आचार्यश्री तुलसी का वरदहस्त मुझे प्राप्त है। मेरा मुनि-धर्म जड़ क्रियाकांड से अनुस्यूत नहीं है। मेरी आस्था उस मुनित्व में है जो बुझी हुई ज्योति न हो। मेरी आस्था उस मुनित्व में है, जहां आनंद का सागर हिलोरें भर रहा हो। मेरी आस्था उस मुनित्व में है, जहां शक्ति का स्रोत सतत प्रवाही हो।

मैं एक परंपरा का अनुगमन करता हूं, किंतु उसके गतिशील तत्त्वों को स्थितिशील नहीं मानता। मैं शास्त्रों से लाभान्वित होता हूं, किंतु उनका भार ढोने में विश्वास नहीं करता।

मुझे जो दृष्टि प्राप्त हुई है, उसमें अतीत और वर्तमान का वियोग नहीं है, योग है। मुझे जो चेतना प्राप्त हुई है, वह तन-मन के भेद से प्रतिबद्ध नहीं है, मुक्त है। मुझे जो साधना मिली है, वह सत्य की पूजा नहीं करती, शल्य-चिकित्सा करती है।

सत्य की निरंकुश जिज्ञासा ही मेरा जीवन-धर्म है। वही मेरा मुनित्व है। मैं उसे चादर की भांति ओढ़े हुए नहीं हूं। वह बीज की भांति मेरे अंतस्तल से अंकुरित हो रहा है।

एक दिन भारतीय लोग प्रत्यक्षानुभूति की दिशा में गतिशील थे। अब वह वेग अवरुद्ध हो गया है। आज का भारतीय मानस परोक्षानुभूति से प्रताड़ित है। वह बाहर से अर्थ का ऋण ही नहीं ले रहा है, चिंतन का ऋण भी ले रहा है। उसकी शक्तिहीनता का यह स्वतःस्फूर्त साक्ष्य है। मेरी आदिम, मध्यम और अंतिम आकांक्षा यही है कि मैं आज के भारत को परोक्षानुभूति की प्रताड़ना से बचाने और प्रत्यक्षानुभूति की ओर ले जाने में अपना योग दूं।'

—आचार्य महाप्रज्ञ

संवत 2059 का माघ मास इतिहास के पन्नों पर स्वर्णिम अक्षरों में अंकित हो रहा है। मर्यादा महोत्सव के साथ-साथ आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का दीक्षा दिवस, अनुशास्ता पदाभिषेक दिवस इसी माह में है और माघ-पूर्णिमा (16 फरवरी, 2003) का दिन तेरापंथ धर्मसंघ के इतिहास में एक नूतन सोपान के रूप में स्थापित हो रहा है। आज ही के रोज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तेरापंथ के आचार्यवरों में सर्वाधिक वय ले चुकेंगे। इस कालजयी व्यक्तित्व का वरदहस्त चिरकाल तक हम सब पर इसी तरह रहे—इस मंगलकामना के साथ भारतीय मनीषा के इस शलाका-पुरुष को विनम्र नमन.

विद्यां च अविद्यां च यस्तद्वेद उभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

अविद्या का अर्थ हैं भौतिक ज्ञान। इस भौतिक ज्ञान से हम मृत्यु को पार करते हैं; अर्थात् इस मृत्युलोक को पार करते हैं। संसार के दुख, रोग, संकट आदि का परिहार करते हैं। संसार-यात्रा सुखकर बनाते हैं। और विद्या से अमरत्व मिलता है और आध्यात्मिक ज्ञान से इस शरीर के अंदर, इस आकार के अंदर 'एक ही चैतन्य है'—इस बात को मालूम करके अमरता प्राप्त करते हैं।

—पांडुरंग सदाशिव साने
'भारतीय संस्कृति' से

❖ ❖

पूर्णता का लक्ष्य किस प्रकार प्राप्त किया जाए? संसार एक ऐतिहासिक अस्तित्वमानता है। यह एक दशा से अगली दशा की ओर होने वाले परिवर्तनों की अस्थायी परंपरा है। जो चीज सारे संसार को चला रही है, वह कर्म ही है। यदि संसार ज्वार और भाटे के सिवाय, निरंतर अस्तित्वमानता के सिवाय और कुछ नहीं है, तो यह कर्म के कारण ही है। मानवीय स्तर पर कर्म—इच्छा या राग अर्थात् काम के कारण किया जाता है। इच्छा का मूल कारण अविद्या या वस्तुओं की प्रकृति के विषय में अज्ञान है। इच्छा का मूल व्यक्ति की आत्मनिर्भरता के अज्ञानपूर्ण विश्वास में और व्यक्ति पर वास्तविकता और स्थायित्व की उपाधि थोप देने में निहित है। जब तक अज्ञान बना हुआ है, तब तक अस्तित्वमानता (नाम-रूप) के दुश्चक्र से बच पाना संभव नहीं। हम इच्छाओं का इलाज और नई इच्छाओं द्वारा नहीं कर सकते। हम कर्म का इलाज और अधिक कर्म के द्वारा नहीं कर सकते।

—डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्
'भगवद्गीता' से

गुटबंदी राजनीति का चक्र है। इसमें फंसने वाला साधक अपनी साधना को जीर्ण-शीर्ण कर देता है।

अपमान उसी के लिए है, जिसके चित्त का विक्षेप होता है। जिसके चित्त का विक्षेप नहीं होता उसके लिए अपमान जैसी कोई वस्तु है ही नहीं :

अपमानादयस्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः।।

जिसने चित्त का विक्षेप नहीं छोड़ा वह कैसा है साधक और कैसी है उसकी साधना?

मन-मुटाव का प्रमुख कारण है स्वार्थ की क्षति। जो स्वार्थ में लिप्त होता है, वह निर्लेप नहीं बन सकता। आचार्य के अनुग्रह का महत्व यही है कि उससे साधु को साधना का सहयोग मिले। उसे भी वह किसी स्वार्थ की पूर्ति में लगाए तो वह अनुग्रह कोई विशेष मूल्य नहीं रखता। आचार्य का पर्याप्त अनुग्रह न हो, उससे खिन्न होकर गण में भेद डालने का यत्न करता है उसने साधना का मर्म नहीं समझा। गुटबंदी का अर्थ है—साधना की अपरिपक्वता। आचार्यश्री भिक्षु ने गुटबंदी को साधना के लिए सद्योघाती आतंक कहा है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

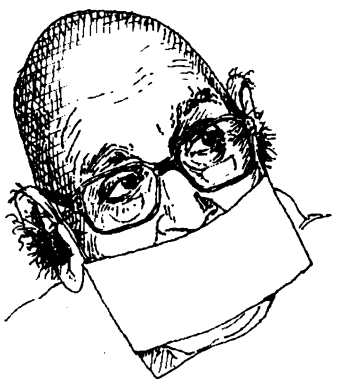

अनुशासन वह कला है जो सब कलाओं की जननी है।

अनुशासन का पथ फूलों से नहीं, कांटों से भरा है किंतु उस पथ से गुजर जाने के बाद हर कांटा फूल बनकर मुस्करा उठता है।

नए सृजन की प्रतीक्षा का प्रथम द्वार है—आत्मानुशासन।

आत्मानुशासन की उज्ज्वल आभा से दीपित चित्त ही धर्म का आधार है। युग की सब वर्जनाओं के टूट जाने पर भी जो बची रहती है, वह आत्म-मर्यादा है।

अनुशासन की सतह पर तैरने वाला बंधता है, किंतु उसकी तहों तक पहुंचने वाला मुक्त हो जाता है।

जो स्व-तंत्र में रहना नहीं जानता, वह कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता।

अनुशासन का अस्वीकार जीवन की पहली हार है।

अपने लिए, अपने द्वारा, अपना नियंत्रण : यही है—अध्यात्म।

मन के पागलपन ने जब-जब ज्वालामुखी उभारा।
तब-तब अनुशासन ने ही इस नर को सदा उबारा।।

अनुशासन वह अमृत है जो व्यक्ति, समाज और देश को सदा जीवित रखता है।

अनुशासनहीनता बाह्य नियंत्रण को निमंत्रण देती है।

—आचार्यश्री तुलसी

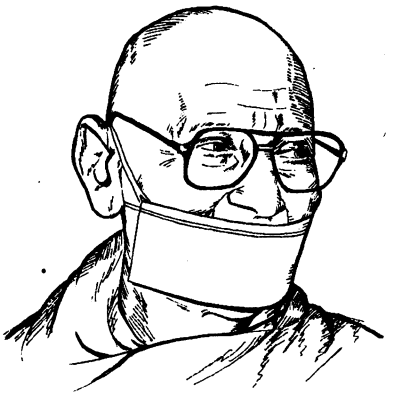

अनुशासन का मूल है विश्वास। विश्वास ही वह कड़ी है, जिसके द्वारा अनुशासित अपने-आप को अनुशास्ता के सम्मुख अनुशासित का बोध नहीं करता, अपितु स्वयं को हल्का अनुभव करता है। अनुशासनहीनता के मूल चार कारण हैं—

अविश्वास

कल्पना

व्यवस्था का अभाव

किसी को प्रमुख न मानने की प्रवृत्ति।

अविश्वास जहां है, वहां मर्यादा या अनुशासन का पालन हो ही नहीं सकता। वज्जियों का उदाहरण हमारे सामने है।

कल्पना के घोड़े जहां दौड़ते हैं, वहां भी अनुशासन टिक नहीं पाता। कल्पना ही कल्पना में व्यक्ति अनुशासन के प्रति तरह-तरह की धारणाएं बना लेता है और अंत में अनुशासक के प्रति अपनी आस्था खो बैठता है। दैनिक जीवन में ही हम देखते हैं कि केवल कल्पना ही कल्पना में लोग कितना बड़ा अनर्थ कर बैठते हैं।

व्यवस्था का अभाव भी अनुशासनहीनता का प्रमुख कारण है। बिना सुव्यवस्था के अनुशासन टिक नहीं सकता।

किसी को प्रमुख न मानने की प्रवृत्ति का आजकल बहुत प्रचार-प्रसार है। राष्ट्र की आजादी के साथ-साथ सबके मन में एक ऐसी प्रवृत्ति ने घर कर लिया कि कोई किसी को अपना प्रमुख मानने के लिए तैयार नहीं। और बिना प्रमुख के अनुशासन कैसा? सेना में कठोर अनुशासन का पालन किया जाता है, किंतु कराने वाला एक कप्तान, कमांडर या सेनापति होता है।

मर्यादा और तेरापंथ

मर्यादा-पालन की दृष्टि से तेरापंथ शासन का अनूठा उदाहरण है। सैकड़ों वर्ष पूर्व आचार्यश्री भीखणजी द्वारा लिखी गई मर्यादाएं आज भी पथ-प्रदर्शन करती हैं और संघ उनका अक्षरशः पालन करता है। सात सौ से अधिक महाव्रती सदस्य एक आचार्य की आज्ञा में, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए सहर्ष विचरण करते हैं और जहां कहीं भी वे होते हैं, संघ की मर्यादा का यथोचित पालन करते हैं। आवश्यकता है—आज व्यक्ति मर्यादा में रहना सीखे, अनुशासित बने।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
फरवरी, 2003

प्रसंग

मर्यादा : परिवर्तन की शक्ति

'किसी भी जीवित समाज में निरंतर बने रहने की शक्ति और परिवर्तन की शक्ति दोनों ही होनी चाहिए। किसी असभ्य समाज में एक पीढ़ी से लेकर दूसरी पीढ़ी तक शायद ही कोई प्रगति होती हो। परिवर्तन को बहुत संदेह की दृष्टि से देखा जाता है और सारी मानवीय ऊर्जाएं स्थिति को यथापूर्व बनाए रखने पर केंद्रित रहती हैं। पर किसी सभ्य समाज में प्रगति और परिवर्तन ही उसकी गतिविधि की जान होते हैं। समाज के लिए अन्य कोई वस्तु इतनी हानिकारक नहीं है, जितनी कि घिसी-पिटी विधियों से और पुरानी पड़ गई आदतों से चिपटे रहना, जो कि केवल जड़ता के कारण बची चली आती हैं।'

उपरोक्त कथन डॉ. एस. राधाकृष्णन् का है जो न केवल भारत, विश्व के माने हुए दर्शनशास्त्री और प्रखर विचारक रहे हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् का यह कथन यहां उद्धृत करने का प्रयोजन स्पष्ट है। 'तेरापंथ' अपना 139वां मर्यादा महोत्सव मना रहा है और इस अवसर पर इस संघ के लिए यह स्मरण करना जरूरी है कि इस धर्मसंघ के 'बीज' में ही 'परिवर्तन की शक्ति' निहित है। अपने उदय से लेकर अब तक के 245-46 सालों में तेरापंथ के विकास से यह परिलक्षित है। लेकिन यहां यह समझना भी जरूरी है कि 'परिवर्तन की इस शक्ति का स्रोत' कहां है?

किसी भी परिवर्तन के लिए उच्च कल्पनाशीलता, दृढ़ अनुशासन और निश्छल मानवीय व्यवहार जरूरी होता है। तेरापंथ का इतिहास साक्षी है कि इसके अब तक के अधिष्ठाताओं में ये सभी विशिष्टताएं मुख्य रूप से विद्यमान रहीं। लेकिन इन विशिष्टताओं के साथ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है—'मर्यादा' का। कोई भी संगठन (वह चाहे धार्मिक हो, सामाजिक या कि राजनीतिक) मर्यादा में रहकर ही अपना अभीष्ट पा सकता है। मर्यादा का स्वरूप जितना बाह्य रूप में सुदृढ़ होना जरूरी होता है, आंतरिक तौर पर भी उसका मजबूत होना आवश्यक है। लेकिन यह मजबूती या दृढ़ता भी यदि थोपी हुई अथवा ओढ़ी हुई होगी तो किसी दिन अपने ही बोझ से चरमरा उठेगी। तेरापंथ का इतिहास प्रमाण है कि अब तक जो मर्यादाएं इस संघ ने निर्धारित की हैं—वे बोझ-रूप नहीं मानी जा सकतीं—ये एक प्रकार से स्वतःस्फूर्त हैं।

किसी भी 'अनुशासन' या कि 'मर्यादा' की यही विशिष्टता होती है। यदि वह 'स्वतःस्फूर्त' है तो अनुगमन सहज और सर्वग्राह्य हो सकता है। तेरापंथ की मर्यादाओं की ताकत इसी 'स्वतःस्फूर्तता' और 'सर्वग्राह्यता' में छिपी है।

'तेरापंथ' एक 'धर्मसंघ' है और एक 'संप्रदाय' के रूप में उसे पहचाना जाता है। केवल साधु-समाज ही इसका अंग नहीं है, एक वृहत जन-समाज भी इस संघ का महत्त्वपूर्ण

हिस्सा है और उसने घर-गृहस्थी त्याग नहीं दी है। वह सामान्य समाज है और साधु-समाज की तरह से 'वैराग्य' में रत नहीं है। इस जन-समाज में आज भी वे सभी एषणाएं विद्यमान हैं जो किसी स्तर पर कुछ समझौते करने के लिए विवश भी करती हैं। यह सही है और एक फर्क हमें समझना भी जरूरी है—वह है साधु और सामान्य-जन का। 'तेरापंथ' की जो मर्यादाएं साधु-समाज के लिए हैं, वे सामान्य-जन-समाज को अभिप्रेरित और आकर्षित तो करती हैं, पर आम-जन अक्षरशः उनकी अनुपालना करे—यह अपेक्षित नहीं है। तथापि यह समझना भी जरूरी है कि एक धर्मसंघ के प्रति निष्ठाशील सामान्य-जन उसके मूल संकल्पों से अपने को पृथक नहीं रख सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संघ से जुड़ा सामान्य-जन-समाज इस ओर सचेत है।

यह बताना प्रासंगिक होगा कि तेरापंथ के अधिष्ठाताओं ने सामान्य-जन-समाज के लिए भी 'आचार-संहिता' का निर्माण किया है और एक बहुत बड़ा वर्ग इस 'आचार-संहिता' को अपने आचरण में लाने के प्रति भी सचेष्ट है। यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि इस दृष्टि से तेरापंथ-संघ किसी भी रूप में जड़ संप्रदाय नहीं है। इस संघ के आचार्य सदा इस मत के रहे हैं कि 'संप्रदाय' बुरा नहीं, बचना सांप्रदायिकता से जरूरी है, मुक्त तो सांप्रदायिकता या संप्रदायवाद से होना चाहिए। 'अणुव्रत' और 'अहिंसा समवाय' जैसे संगठनों को इसलिए 'तेरापंथ' अपना प्रबल 'पीठ' मानता है।

इसीलिए सांप्रदायिकता की लपटें जब भी कहीं सिर ऊंचा करती हैं तो 'तेरापंथ' की संवेदनाएं सामान्य से कहीं अधिक प्रखर-मुखर हो उठती हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की पूर्व घोषित अहिंसा-यात्रा तभी तो अविराम गतिशील रही। गुजरात दिशा की ओर अभिमुख इस 'अहिंसा-यात्रा' का पथ बदल देने का सुझाव आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसीलिए तब अस्वीकार किया कि उस दिशा के लिए ही इस 'अहिंसा-यात्रा' की सर्वाधिक प्रासंगिकता है। 'चरैवेति-चरैवेति' यह अहिंसा-यात्रा गुजरात की शांति के साथ अब महाराष्ट्र (हाल मुंबई) में पड़ाव डाले है।

लेकिन इस अहिंसा-यात्रा का लक्ष्य सांप्रदायिक या जातीय हिंसा की आग बुझाने तक सीमित नहीं है। हिंसा की जो लपटें साल-भर पहले देश में उठी थीं, वह तो 'अहिंसा-यात्रा' के बाद की घटना है, अहिंसा-यात्रा का प्रारंभ तो सन् 2001 के आखिरी महीनों में ही हो गया था। जाहिर है 'अहिंसा-यात्रा' का उद्देश्य कहीं अधिक सघन, कहीं अधिक व्यापक और वृहत है। हमारे दैनंदिन जीवन में, सामान्य व्यवहार में, घर में, समाज में न जाने कितने प्रकार से हिंसा होती है। अहिंसा-यात्रा का उद्देश्य तो यहां तक पहुंचना है। हिंसा की बलबली लपटें तभी थम सकती हैं। 'अहिंसा-समवाय' और 'अहिंसा-यात्रा' का उद्देश्य 'अहिंसक-समाज' खड़ा करना है। तभी तो अहिंसक जीवन-शैली के प्रशिक्षण पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी पिछले काफी समय से सर्वाधिक जोर देते रहे हैं। 'अहिंसा-समवाय' का प्रयोजन भी यही है।

इसीलिए 'तेरापंथ' से जुड़ा सामान्य-जन अपेक्षया अधिक जवाबदेह माना जाना चाहिए। मैं फिर डॉ. राधाकृष्णन् का सहारा लेना चाहता हूं, वे कहते हैं—'प्रत्येक समाज के इतिहास में एक ऐसा समय आता है, जब, यदि उस समाज को एक सजीव शक्ति के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखना हो और अपनी प्रगति को जारी रखना हो तो, सामाजिक व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। यदि वह प्रयत्न करने में असमर्थ रहे, यदि उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी हो और उसका पुरुषार्थ निःशेष हो चुका हो, तो वह इतिहास के रंगमंच से बाहर निकल जाएगा। हमारे सम्मुख सामाजिक परिवर्तन के लिए एक बहुत बड़ा अवसर उपस्थित है। हमें मनुष्य-निर्मित विषमताओं और अन्यायों को हटाकर समाज को शुद्ध करना होगा और सब लोगों को वैयक्तिक कल्याण और विकास के लिए समान अवसर प्रदान करने होंगे। यदि आज वे लोग, जो हमारी संस्कृति में निष्णात हैं (बहुश्रुताः) और इसे बचाए रखने के लिए उत्सुक हैं, हमारे सामाजिक संगठन में आमूल परिवर्तन कर दें।'

सौभाग्य से ऐसा निष्णात (बहुश्रुताः), प्रज्ञावान नेतृत्व 'तेरापंथ' के पास है। हमें मंगल कामना करनी चाहिए कि 'तेरापंथ' को यह नेतृत्व अजस्र मिलता रहे। 'तेरापंथ' के अब तक के आचार्यों में वर्तमान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सर्वाधिक वय-प्राप्त आचार्य हो जाने वाले हैं। इसी 16 फरवरी, 2003 को वे अपनी वय के उस सोपान पर पहुंच जाएंगे, जहां काल के चक्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों को न पहुंचने दिया। अतः शतशः प्रणाम के साथ विनम्र कामना है कि यह 'कालजयी महर्षि' विषमता व अन्याय से आहत व निष्प्राण हो रही मानवता को अपनी 'आध्यात्मिक-ऊर्जा' से प्राणवान बनने का संबल दे। संपूर्ण मानवता के लिए यही एक अमूल्य अवदान होगा।

—शुभू पटवा

विमर्श

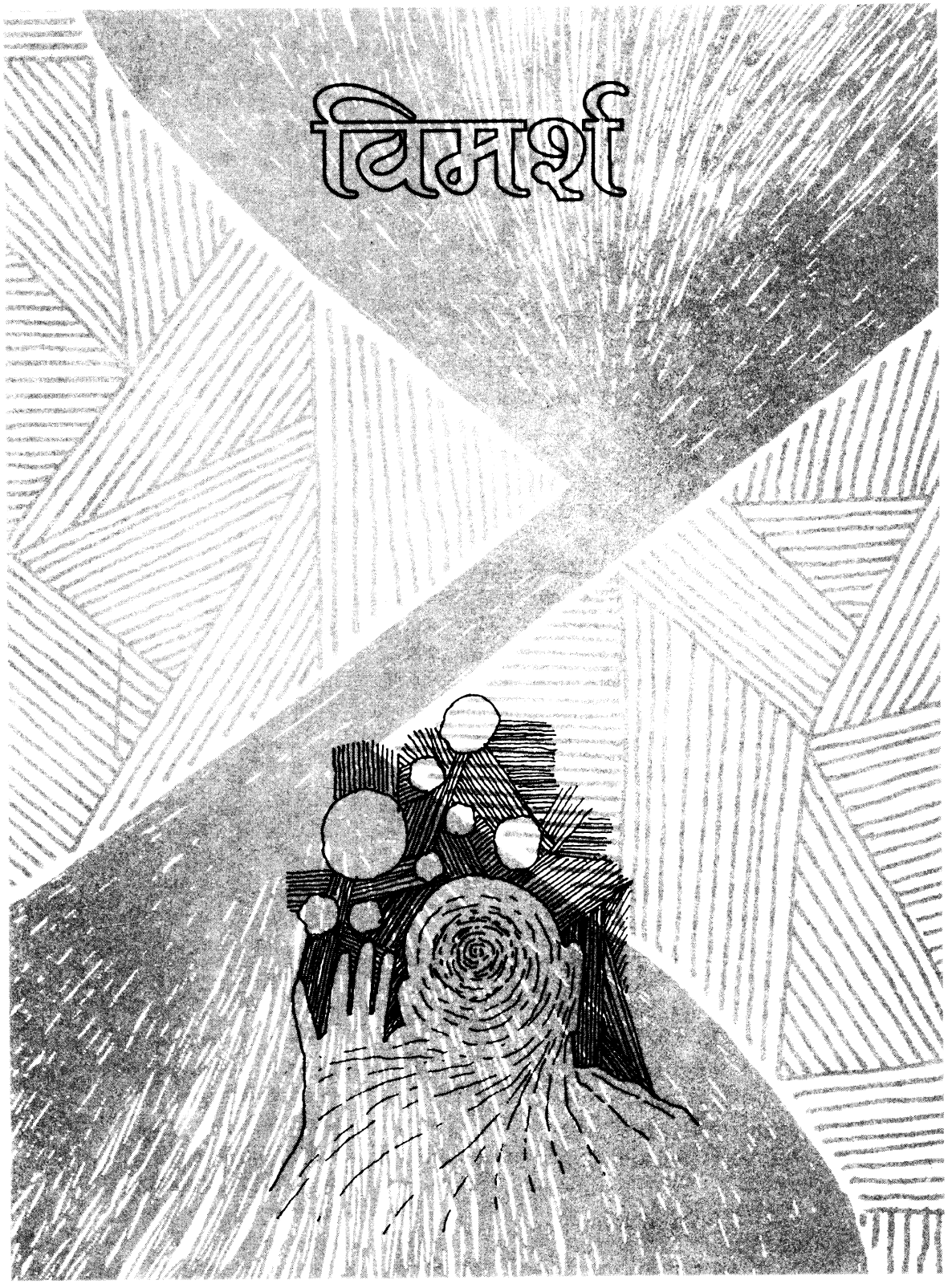

आत्मबद्ध चिंतन, परिवारबद्ध चिंतन, क्षेत्रबद्ध चिंतन, धर्मबद्ध चिंतन और देशबद्ध चिंतन मनुष्य के स्वभाव में है और इसके लिए उसे दोष नहीं दिया जा सकता। अपने से बाहर जाने वाले और क्रमशः बड़े होते जाने वाले ये दायरे भी अंततोगत्वा उसके अस्तित्व से जुड़े हैं। परंतु सभ्यता के क्रम में हमने यह विवेक भी अर्जित किया है कि लघुतर वृत्त के लिए बृहत्तर को संकट में डालने के स्थान पर यदि बृहत्तर के हित में लघुतर संकट उठाए तो हानि कम ही नहीं होती अपितु प्रायः टल भी जाती है। जब हम टूट कर क्रमशः छोटे दायरों में सिमटते हुए अपने में सिमट जाते हैं तब संकट अनिवार्य हो जाता है। इसी समझ के तहत मनुष्य ने बृहत्तर के लिए आत्मबलिदान की नैतिकता विकसित की थी और इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि मनुष्य अकेले अपने तईं सुखी रहना भी चाहे तो रह नहीं सकता या क्षणिक रूप में ही रह सकता है। स्थाई सुख और कल्याण पूरी मानवता के कल्याण से, पूरे विश्व की शांति से ही संभव है। इस बोध के चलते ही हमने 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, वसुधैव कुटुम्बकम्, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्, आत्मवत सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पंडितः' आदि को अपना आदर्श बनाया था और चरित्र की वह उदारता विकसित की थी जिसके आगे 'अयं निजः परो वा इति' की गणना क्षुद्रता का पर्याय बन गई थी। उस प्राचीन युग में जब आज दुनिया पर छाए हुए धर्मों में से किसी का जन्म ही नहीं हुआ था, इनकी कल्पना तक सामने नहीं आई थी और दुनिया बर्बरता के दौर से गुजर रही थी, जब हामू रबी की आचारसंहिता का भी जन्म नहीं हुआ था, भारतीय मनीषियों ने जल-थल, पर्वत, मैदान, जंगल, समुद्र सर्वत्र शांति की कामना के गीत गाए थे।

—भगवान सिंह

'भारत : तब से अब तक' से

समस्या समाधान की प्रयोगशाला—तेरापंथ

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

❑

आचार्यश्री भिक्षु ने चैतन्य-जागरण और अध्यात्म की भूमिका को और आगे बढ़ाया। उन्होंने एक सूत्र प्रस्तुत किया। उस सूत्र का उल्लेख अध्यात्म जगत में भी कम मिलता है। उन्होंने कहा, 'पुण्य की इच्छा करना भी पाप है।' सारे लोग पुण्य के लिए काम कर रहे हैं। सभी जगह एक ही स्वर सुनाई देता है—पुण्य चाहिए, पुण्य चाहिए, पुण्य चाहिए। किंतु आचार्यश्री भिक्षु का स्वर है—पुण्य की इच्छा करना पाप है। उनका कथन है, 'जिण पुण्य तणी वंछा करी, ते वंछ्या कामभोग।' जिस व्यक्ति ने पुण्य की इच्छा की, उसने कामभोग की इच्छा की—यह विचित्र-सा कथन लगता है कि पुण्य की इच्छा कामभोग की इच्छा है। पुण्य की इच्छा पाप की इच्छा है, कैसे है (?)—यह प्रश्न है।

तेरापंथ अध्यात्म का एक प्रयोग है, चैतन्य जागरण का प्रयोग है। अध्यात्म का अर्थ है—मूर्च्छा को तोड़ना, मोह के व्यूह का भेदन करना। मूर्च्छा का एक चक्रव्यूह है। मोह जितना प्रगाढ़ होता है, उतना ही प्रगाढ़ होता है—राग और द्वेष। राग और द्वेष जितने प्रगाढ़ होते हैं, उतने ही प्रगाढ़ होते हैं—अहंकार और ममकार। अध्यात्म का अर्थ है—अहंकार और ममकार का विसर्जन। तेरापंथ का अर्थ है—अहंकार और ममकार का विसर्जन।

वैज्ञानिकों ने खोजा कि मूल तत्त्व क्या है? दार्शनिकों ने इस विषय पर बहुत मनन किया। खोज की कि मूल तत्त्व क्या है? किसी ने कहा—पानी मूल तत्त्व है। किसी ने कहा—अग्नि मूल तत्त्व है। मूल तत्त्वों के संबंध में पश्चिम तथा भारतीय दार्शनिकों ने अपनी-अपनी स्थापनाएं प्रस्तुत कीं। उनमें से पांच भूतों का विकास हुआ।

आचार्यश्री भिक्षु ने भी सोचा, इस समस्या का, दुख के चक्र का मूल कारण क्या है? उन्होंने बताया कि मूल कारण है—राग। राग और द्वेष—ये दोनों अलग-अलग माने जाते हैं, पर आचार्यश्री भिक्षु ने द्वेष पर विशेष बल नहीं दिया, क्योंकि वह मूल बात नहीं है। द्वेष, अप्रियता मूल तत्त्व नहीं हैं। वे प्रतिक्रिया हैं। मूल तत्त्व एक है—राग और राग की प्रतिक्रिया है—द्वेष। राग होता है, तब द्वेष होता है। प्रियता का संवेदन होता है, तब अप्रियता का संवेदन होता है। यदि प्रियता न हो, राग न हो तो द्वेष का जन्म नहीं होगा। द्वेष प्रतिक्रियास्वरूप पैदा होता है। मूल तत्त्व नहीं है। मूल तत्त्व है—राग। एक संस्कृत कवि ने बहुत अच्छा लिखा है—दुनिया में बहुत-सारे बंधन हैं। किंतु प्रेम-रज्जु का बंधन यानी राग-रज्जु का बंधन सबसे ज्यादा विकट है। उदाहरण बहुत साफ है—जो भंवरा काष्ठ को भेद देता है, वही भंवरा कमल-कोष में बंध जाता है। काष्ठ जैसी कठोर वस्तु को भेद डालने वाला भंवरा कमल-कोष में बंदी बन जाता है। उसका कारण है—राग।

आचार्यश्री भिक्षु ने तेरापंथ की व्याख्या में जो सबसे बड़ा सत्य खोजा, वह था—राग की प्रधानता। उन्होंने कहा कि द्वेष की प्रधानता को तो सब लोग जान लेते हैं, सब लोग समझ लेते हैं। किंतु राग को समझना बड़ा कठिन है। बहुत कठिन समस्या है—राग को समझना, प्रियता को समझना।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को गाली देता है, तत्काल समझ में आ जाता है कि वह गाली दे रहा है। किंतु एक

व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को वासना के चक्र में फंसा रहा है, यह नहीं समझा जाता कि कोई गैर काम कर रहा है। बड़ा प्रिय लगता है। कारण यह है कि राग को समझना बड़ा जटिल काम है।

तेरापंथ का अर्थ है—राग के प्रति दृष्टिकोण की निर्मलता। हमारा दृष्टिकोण द्वेष के प्रति जितना स्पष्ट, प्रत्यक्ष और निर्मल है, उतना राग के प्रति नहीं है। इसीलिए तेरापंथ के विषय में कुछ भ्रांतियां हो जाती हैं। वे राग-जनित भ्रांतियां हैं, क्योंकि जहां राग का प्रश्न आया, वहां धर्म नहीं है—इस घोषणा ने, राग में रत मनुष्य के मन में भ्रांतियां पैदा कर दीं। किंतु यह बात समझ में आ जाए कि समस्या का मूल तत्त्व है—राग। दुख के चक्र का मूल तत्त्व है—प्रिय-संवेदन, तो बात बहुत साफ हो जाती है, कोई भ्रांति नहीं रह पाती।

हमारी समस्या क्या है? कोई अप्रिय व्यक्ति एक छोटी-सी गलती भी करता है—राई जितनी, तो वह भी पहाड़ जैसी दीखने लग जाती है। और प्रिय व्यक्ति पहाड़ जितनी बड़ी गलती करता है, तब भी वह राई जितनी बड़ी भी नहीं लगती। लगता है कि अच्छा काम कर रहा है। यह बड़ी समस्या है। हम ध्यान दें। कोई व्यक्ति पक्षपात नहीं चाहता। सबसे बड़ा कष्ट होता है—पक्षपात।

एक व्यक्ति था, सब प्रकार से संपन्न। माता-पिता—सभी विद्यमान थे। फिर भी बड़ा दुखी था। उससे पूछा गया कि तुम्हें इतना दुख क्यों है? कोई कमी नहीं, जितनी सुविधा चाहिए, सारी तुम्हें प्राप्त हैं। सामग्री चाहिए, सारी तुम्हें प्राप्त है—फिर भी तुम इतने दुखी क्यों? उसने कहा, 'और तो सब-कुछ है, किंतु एक बात से बहुत दुखी हूं। मेरे पिता छोटे भाई को लेकर बहुत पक्षपात करते हैं। इस बात से मैं बहुत दुखी हूं।' सब-कुछ होते हुए भी एक छोटे-से पक्षपात के कारण इतना बड़ा दुख हो जाता है।

आज की समस्या है—पक्षपात। राजनीति के क्षेत्र में, वैचारिक क्षेत्र में और धर्म के क्षेत्र में सबसे बड़ी समस्या है—पक्षपात। जो लोग चैतन्य-जागरण के अभिमुख हुए हैं, उन्होंने सबको सावधान किया। राजनीति के क्षेत्र में राजनीति के विद्वानों ने राजनेता को सावधान किया कि यदि राज्य का सम्यक् संचालन करना है तो वह पक्षपात में न जाएं। समान दृष्टि से सबको देखें। विचार के क्षेत्र में, दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र के उस श्लोक को नहीं भुलाया जा सकता—

पक्षपातो ने मे वीरे न द्वेषः कपिलादिसु!
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः॥

महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है। कपिल आदि दार्शनिकों के प्रति मेरा द्वेष नहीं है। जिसका वचन मुझे युक्तियुक्त लगता है, उसे स्वीकार करने के लिए मैं तैयार हूं। उन्होंने तो आगे जाकर इतना तक कह दिया, 'मैं महावीर को क्यों मानता हूं! महावीर मेरे कोई चाचा नहीं हैं, दादा नहीं हैं, मेरे कोई सगे-संबंधी नहीं हैं। उनके साथ मेरा कोई पक्षपात नहीं है। केवल युक्ति के आधार पर मैं महावीर को स्वीकार करता हूं।'

विचार के क्षेत्र में भी इस बात पर बल दिया गया कि पक्षपात नहीं होना चाहिए। परमार्थ के क्षेत्र में और धर्म में भी यह जरूरी बात है। युग की सबसे बड़ी समस्या है—पक्षपात। समस्या के समाधान के रूप में दो बातें बहुत साफ उभरकर सामने हैं—एक तटस्थता और दूसरी समता. तटस्थता का प्रयोग अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में निर्गुट राष्ट्रों के माध्यम से हो सकता है।

निर्गुट राष्ट्रों का पक्ष किसी पक्ष-विशेष के साथ में जुड़ा हुआ नहीं है। तटस्थ राष्ट्र अलग-अलग पक्षों के बीच में एक संतुलन बनाए रख सकते हैं। आज के वैचारिक क्षेत्र में इस तटस्थता को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसका बहुत मूल्यांकन किया गया है। तटस्थ राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के बीच में एक सीमा-रेखा का काम कर सकते हैं।

समता का प्रयोग अपरिग्रह के क्षेत्र में और अर्थ के क्षेत्र में किया जा सकता है। अर्थ के क्षेत्र में साम्यवाद, समाजवाद जैसे रूप चाहे बने हों, किंतु उनकी पृष्ठभूमि में समता का सिद्धांत बोल रहा है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। वर्तमान की सारी समस्याओं के समाधान में दो तत्त्व उजागर हुए हैं—एक तटस्थता और दूसरा समानता।

तेरापंथ तटस्थता का प्रयोग है, समता का प्रयोग है। अहंकार और ममकार तटस्थता को भंग करने वाले तत्त्व हैं। अध्यात्म की भाषा में हम ममकार का अर्थ समझें—जो अनात्मीय भाव हैं, जो अपने नहीं हैं, स्व नहीं हैं, जो आत्मा के नहीं हैं, वे सब अनात्मीय हैं—जैसे शरीर। वह शरीर कर्म-जनित है। यह स्थूल शरीर बना है—कर्म शरीर से, जो सूक्ष्म शरीर है। उसने इस स्थूल शरीर का निर्माण अपने सहभागी शरीर के रूप में किया है। वह आत्मा का नहीं है, चैतन्य का नहीं है। शरीर भिन्न है। आत्मा भिन्न है। जितना भी पुद्गल है, वह अनात्मीय है। अनात्मीय में आत्मीय का अभिनिवेश होना ममकार है। यह मेरा शरीर, यह मेरा धन—यह अभिनिवेश ममकार है।

दूसरा तत्त्व है—अहंकार। कर्म के कारण मनुष्य की नाना प्रकार की अवस्थाएं बनती हैं। उन कर्मजनित अवस्थाओं में 'यह मैं हूं'—इस प्रकार का अभिनिवेश करना 'अहंकार' है। जैसे—मैं भाग्यवान हूं, मैं रूपवान हूं, मैं बलवान हूं—ये सारी अवस्थाएं कर्म और सूक्ष्म संस्कारों के कारण निर्मित होती हैं। इन अवस्थाओं में 'अहं' का अभिनिवेश करना अहंकार है।

अहंकार और ममकार—ये दोनों मिलकर पक्षपात का निर्माण करते हैं। अहंकार जुड़ा—पक्ष बन गया। ममकार जुड़ा—पक्ष बन गया। आचार्यश्री भिक्षु बड़े तत्त्वज्ञानी और प्रबुद्ध तत्त्वदर्शी थे। उन्होंने देखा—धर्मसंघ चल रहे हैं अध्यात्म के आधार पर, फिर उनमें इतना वैमनस्य क्यों? एक संघ के साधु-साध्वियों में भी इतना अलगाव क्यों? परस्पर कटुता का भाव क्यों? सौहार्द क्यों नहीं? उन्होंने इन सारी समस्याओं पर विचार किया। उन्हें लगा कि अध्यात्म का मूल तत्त्व पकड़ा नहीं जा रहा है। इन भावों के घटक बिंदुओं, अहंकार और ममकार को नहीं पकड़ा जा रहा है। शिष्य बना लिए। दो-चार-दस शिष्य हो जाएं और आचार्य बनने की बात मन में उभर आती है। पढ़-लिखकर विद्वान् बन गए, शक्ति-संपन्न हो गए कि सोचने का ढंग बदल जाता है—अब मैं किसी को गुरु या आचार्य मानकर क्यों चलूं? मुझे स्वयं गुरु और आचार्य बनकर चलना चाहिए। मैं योग्य हो गया हूं। इस विचार से ही पृथक् शाखा के उद्भव का बीज-वपन होता है। शाखा और शाखा का विस्तार होता जाता है। इस प्रकार शाखाएं और उपशाखाएं और उनकी भी अवांतर शाखाएं—न जाने कितना विस्तार हो जाता है। शायद वटवृक्ष में भी उतनी शाखाएं नहीं होंगी, जितनी एक समाज में बन जाती हैं।

भगवान महावीर के समय में कोई शाखा नहीं थी। भगवान महावीर के दो सौ वर्षों के बाद तक कोई शाखा नहीं बनी। फिर शाखाओं का विस्तार होता गया। यह धारणा बना ली कि जहां वटवृक्ष है, वहां शाखा का होना अनिवार्य है। अखंड शासन शाखाओं में बंट गया। जब एक शाखा थी, तब अहंकार और ममकार प्रबल नहीं था। जैन शासन अनेक शाखाओं में विभक्त हुआ और अहंकार भी प्रबल हो गया, ममकार भी प्रबल हो गया। जब अहंकार और ममकार प्रबल हुआ तब शाखाओं का विस्तार भी होता गया।

आचार्यश्री भिक्षु ने इस मूल समस्या पर विचार किया। उन्होंने देखा—ममकार भी प्रबल है और अहंकार भी प्रबल है। उन्होंने सोचा—क्या ममकार और अहंकार को छोड़ने के लिए अपने शिष्यों को उपदेश दूं? फिर सोचा—उपदेश से बात बनेगी नहीं, क्योंकि चैतन्य अभी जागृत नहीं है। उनके चैतन्य को जागृत करना है। उसका एक प्रायोगिक रूप सामने लाना है। केवल उपदेश कार्यकर नहीं होगा। प्रयोग से यदि बात सफल हो जाए तो बार-बार उपदेश भी नहीं देना पड़ेगा। यदि प्रयोग सामने नहीं होगा तो उपदेश का कहीं अंत भी नहीं होगा। उपदेश देते चले जाओ। शिष्य बनाने वाले शिष्य बनाते चले जाएंगे। होगा वही जो संस्कार बना हुआ है।

आचार्यश्री भिक्षु ने एक प्रायोगिक रूप प्रस्तुत किया। दीर्घकालिक चिंतन और मनन के पश्चात् उन्होंने एक रूप तैयार किया। उसको तैयार करने में उनको सोलह वर्ष लगे। उन्होंने प्रयोग की कुछ रेखाएं खींचीं। उन्होंने कहा, 'मेरा संघ प्रायोगिक संघ होगा। उसमें पहला प्रयोग यह होगा कि कोई भी सदस्य अपना शिष्य नहीं बना सकेगा। उसे सबसे पहले 'मेरा शिष्य'—इस ममकार का विसर्जन करना होगा। ममकार को कहीं अवकाश नहीं। न 'मेरा कपड़ा', न 'मेरी पुस्तकें'—कुछ भी मेरा नहीं। यदि कोई साधु कहे कि यह कपड़ा मेरा है, ये पुस्तकें मेरी हैं—तो यह भाषा का गलत प्रयोग है। वह कहेगा—ये कपड़े मेरी निश्रा में हैं, ये पुस्तकें मेरी निश्रा में हैं, मैं इन्हें काम में ले रहा हूं। ये मुझे संघ द्वारा प्रदत्त हैं। मैं इनका उपयोग कर रहा हूं। उपभोग कर रहा हूं। आचार्यश्री भिक्षु ने ममत्व-विसर्जन के इस बिंदु को और आगे बढ़ाया। उन्होंने कहा, 'साधु-साध्वियों के संघाटक (ग्रुप) गांव-गांव में विहरण करेंगे। उनमें एक मुखिया होगा, शेष उसके सहयोगी। वे सहयोगी या सहगामी साधु-साध्वी उन मुखियों के शिष्य नहीं होते, सहयोगी होते हैं। कोई किसी का शिष्य नहीं होता। सब गुरु-भाई हैं। जब वे विहार कर गुरु-चरण में आएंगे तब मुखिया साधु-साध्वी को ये शब्द उच्चस्वर से, सभा के बीच कहने होंगे—'गुरुदेव! मैं प्रस्तुत हूं। मेरे साथ वाले साधु या साध्वियां प्रस्तुत हैं। ये पुस्तक-पन्ने प्रस्तुत हैं। आप मुझे जहां रखें, वहां रहने के लिए मैं सहर्ष तैयार हूं, प्रस्तुत हूं।' इतना कहे बिना वह अग्रगामी साधु या साध्वी पानी तक नहीं पी सकता। कुछ भी नहीं खा सकता। उसे ये शब्द उच्चारित करने ही होते हैं।'

आचार्यश्री भिक्षु ने ममत्व-विसर्जन और अहंकार-विसर्जन के प्रयोग को और आगे बढ़ाया। उन्होंने कहा, 'तेरापंथ धर्मसंघ का कोई भी सदस्य पद के लिए उम्मीदवार नहीं बन सकता।' बहुत बड़ी बात है। उन्होंने विचार और चिंतन की पूरी स्वतंत्रता दी, किंतु उम्मीदवार बनने पर प्रतिबंध लगा दिया। उम्मीदवार बनने का अर्थ होता

है—अहंकार का पल्लवन। मैं बहुश्रुत होना चाहता हूं, मैं चैतन्य-जागरण की दिशा में बढ़ना चाहता हूं, मैं कलाकार बनना चाहता हूं—यह सोचा जा सकता है। पर मैं अग्रगामी बनना चाहता हूं, मैं आचार्य बनना चाहता हूं—यह नहीं सोचा जा सकता। उम्मीदवार बनने की चाह पर ही उन्होंने नियंत्रण लगा डाला। योग्य बनने की बात सोची जा सकती है। आचार्य-पद के योग्य तथा अग्रगामी पद के योग्य बनने की बात सोची जा सकती है, पर आचार्य बनूं या अग्रणी बनूं—यह सोचना इष्ट नहीं है। उन्होंने नियम बनाया—कोई भी साधु या साध्वी पद के लिए उम्मीदवार नहीं बनेगा।

विचार का भी अहंकार और ममकार होता है। किसी साधु ने मान लिया कि मैं बहुत बड़ा चिंतक हूं, विद्वान हूं, सोच-समझ सकता हूं—उसने अपना एक विचार बना लिया। तब उसमें आग्रह होगा कि मेरा विचार पूरी तरह से मान्य हो, पर वैसा होता नहीं। वही विचार मान्य हो सकता है जो संघ का विचार बनता हो। किसी व्यक्ति-विशेष का विचार सर्वमान्य बने, यह आवश्यक नहीं है। व्यक्ति में इससे आग्रह पनपता है। आग्रह से पक्ष प्रबल करने की बात आती है और उसका अंत होता है—संघ से पृथक् हो जाना। वह कहता है—मेरा विचार मान्य नहीं हुआ, इसलिए मैं संघ से अलग हो गया।

आचार्यश्री भिक्षु ने इस दिशा में अध्यात्म का एक प्रयोग किया। बहुत सुंदर प्रयोग किया। पूरे वैचारिक और दर्शन-विकास के इतिहास में वैचारिक ममत्व के विसर्जन का जो सूत्र आचार्यश्री भिक्षु ने दिया, वैसा संभवतः अन्य आचार्यों ने नहीं दिया। उन्होंने इसकी एक पूरी आचार-संहिता प्रस्तुत की। उन्होंने लिखा, 'तुमने जो विचार बनाया है, उसकी पृष्ठभूमि खोजो। तुम तत्त्वद्रष्टाओं के अनुभव का अनुसरण करो। तुम सोचो—मेरा जो विचार बना है, उसके पीछे किस व्यक्ति का अनुभव काम कर रहा है। तुम्हारे उस विचार का कोई आधार प्राप्त होता है या नहीं—इसे देखो। जो लोग अनुभव के क्षेत्र में उतरे हैं, उन्होंने अनुभव की वाणी में जो कहा है, उसका आधार मिल जाए तो बात सीधी बन जाती है। जहां समस्या उलझती है, वहां हम आगमवाणी को उद्धृत करते हैं। आगम की वाणी अनुभव की वाणी है। भगवान महावीर ने दीर्घकालीन साधना के बाद जो अनुभव प्राप्त किया और जो वाणी प्रस्तुत की वह अनुभव की वाणी है, प्रज्ञा की वाणी है। सबको अनुभव की वाणी का आधार खोजना चाहिए।' यह उस आचार-संहिता की पहली कड़ी है।

आचार्यश्री भिक्षु ने दूसरी बात कही—'तुम अपना विचार आचार्य तथा बहुश्रुत साधुओं के समक्ष रखो। वे जो समाधान दें, उसे स्वीकार करो।' यह उस आचार-संहिता की दूसरी कड़ी है।

उन्होंने तीसरी कड़ी प्रस्तुत करते हुए कहा, 'उनके द्वारा दिया गया समाधान तुम्हारे बुद्धिगम्य हो तो तुम उसे बुद्धि से स्वीकार करो। यदि वह तुम्हारी बुद्धि में न बैठे तो तुम उसे श्रद्धा से स्वीकार कर लो। यदि वह तथ्य बुद्धिगम्य भी न हो और श्रद्धागम्य भी न हो तो तुम उसको लेकर खींचतान मत करो। उसे केवलीगम्य कर दो। यह सोचकर संतोष करो कि मैं केवली या सर्वज्ञ नहीं हूं। अतींद्रिय ज्ञानी नहीं हूं। मैं क्यों आग्रह करूं? मुझे इसे आगे के चिंतन के लिए छोड़ देना चाहिए। जिस दिन मेरा ज्ञान बढ़ेगा, अतींद्रिय क्षमताएं जागेंगी, मेरा चैतन्य और प्रबल होगा, उस दिन समाधान मिल जाएगा। आज ही पूरा समाधान हो जाए, यह आवश्यक नहीं है। उस वैचारिक आग्रह को, ममत्व को, चैतन्य की मूर्च्छा को हेतुभूत बनाओ। चैतन्य-जागरण की प्रतीक्षा करो। खींचतान मत करो।' वैचारिक क्षेत्र में यह ममत्व-विसर्जन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

अहिंसा के क्षेत्र में तेरापंथ ने जो नई स्थापनाएं कीं, वे चैतन्य-जागरण की दिशा में बहुत मूल्यवान हैं। एक व्यक्ति ने आचार्यश्री भिक्षु से पूछा, 'कोई गाय हरी घास चर रही है। आप क्या करेंगे? उस गाय को वहां से हटाएंगे या नहीं? घास में जीव है। वह सचेतन है। एक जीव दूसरे जीव को खा रहा है। गाय भी जीव है, घास भी जीव है। आप साधु हैं। आप छह जीव-निकायों के, सभी जीवों के रक्षक हैं। आप क्या करेंगे? गाय को वहां से हटाएंगे तो गाय को दुख होगा और यदि नहीं हटाएंगे तो जीवों के प्रतिपालक कहां रहे?'

आचार्यश्री भिक्षु बोले, 'मैं गाय को नहीं रोकूंगा।'

उसने कहा, 'फिर आप छह जीव-निकायों के रक्षक नहीं रहे।'

आचार्यश्री भिक्षु ने कहा, 'रोकने या हटाने में मैं अध्यात्म, अहिंसा या धर्म नहीं मानता। धर्म की मेरी कसौटी यह है—चैतन्य जागा या नहीं जागा? हृदय बदला या नहीं बदला? गाय का चैतन्य जाग जाए तो वह अपने-आप वहां से हट जाएगी। गाय का चैतन्य यदि नहीं जागा है और मैं उसे वहां से हटाऊंगा तो वह अधर्म होगा, पाप होगा। यह मेरा कर्तव्य नहीं है।'

आचार्यश्री भिक्षु ने एक कसौटी रखी। कोई किसी को मारता है, कोई किसी को खाता है, उस समय बचाएं या

नहीं बचाएं, हटाएं या न हटाएं, यह निर्णय व्यवहार की भूमिका पर जो व्यक्ति, जिस समय, जैसा उचित समझे वैसा करे। हमें इसमें क्या आपत्ति है? यह अपनी-अपनी स्थिति, परिस्थिति और वातावरण का प्रश्न है। धर्म का और चैतन्य-जागरण का प्रश्न इससे सर्वथा भिन्न है।

प्रसिद्ध विचारक काण्ट ने लिखा है—दया के अभिनिवेश में कोई आचरण करना धर्म नहीं है। यह एक नैतिक दुर्बलता या मानसिक बीमारी है। यह भी एक प्रकार का अभिनिवेश है, आवेश है। जैसे क्रोध का आवेश होता है, वैसे ही करुणा का भी आवेश होता है। करुणा के आवेश में किया जाने वाला आचरण धर्म नहीं हो सकता। ईसाइयों का एक संप्रदाय है—'टोई' संप्रदाय। उस संप्रदाय के सदस्य करुणा के आवेश को पास में भी नहीं फटकने देते। वे कहते हैं, मानते हैं कि आवेश में, फिर चाहे वह करुणा का हो या क्रोध का—कोई भी काम होगा—वह गलत होगा। वह धर्म नहीं हो सकता।

आचार्यश्री भिक्षु ने एक कसौटी दी। चाहे गाय घास खा रही हो, चाहे कसाई बकरों को मार रहा हो, चाहे कोई पशु या सिंह अन्य पशु को मार रहा हो, कुछ भी हो रहा हो। वहां कसौटी यह है कि सामने वाले ने हिंसा छोड़ी, उसका चैतन्य जागा, हृदय बदला तो वह धर्म है और अध्यात्म है। यदि उसका चैतन्य नहीं जागा, हृदय नहीं बदला तो उसे धर्म की सीमा में कभी प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। चैतन्य-जागरण कसौटी है। जहां चैतन्य का जागरण है—वहां धर्म है, जहां चैतन्य का जागरण नहीं—वहां धर्म नहीं।

एक आदमी किसी को मार रहा है। चाहे आदमी को ही मार रहा हो। दूसरा आया। उसने जोर-जबरदस्ती उसे छुड़ा दिया। पूछा जाए कि छुड़ाने वाले को क्या हुआ? आचार्यश्री भिक्षु का उत्तर वही होगा—तुमने बल-प्रयोग से छुड़ाया है तो वह लोक की भूमिका का कर्तव्य है। अगर उसका अध्यात्म जागा, हृदय बदला तो वह अध्यात्म और धर्म होगा।

आचार्यश्री भिक्षु ने चैतन्य-जागरण और अध्यात्म की भूमिका को और आगे बढ़ाया। उन्होंने एक सूत्र प्रस्तुत किया। उस सूत्र का उल्लेख अध्यात्म जगत में भी कम मिलता है। उन्होंने कहा, 'पुण्य की इच्छा करना भी पाप है।' सारे लोग पुण्य के लिए काम कर रहे हैं। सभी जगह एक ही स्वर सुनाई देता है—पुण्य चाहिए, पुण्य चाहिए, पुण्य चाहिए। किंतु आचार्यश्री भिक्षु का स्वर है—पुण्य की इच्छा करना पाप है। उनका कथन है, 'जिण पुण्य तणी वंछा करी, ते वंछ्या कामभोग।' जिस व्यक्ति ने पुण्य की इच्छा की, उसने कामभोग की इच्छा की—यह विचित्र-सा कथन लगता है कि पुण्य की इच्छा कामभोग की इच्छा है। पुण्य की इच्छा पाप की इच्छा है, कैसे है (?)—यह प्रश्न है।

प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहना चाहता है, कोई मरना नहीं चाहता। हमारा चिंतन यह है कि जो जीना चाहता है, वह मरना चाहता है। ऐसा कौन व्यक्ति है जो जीना चाहता हो, मरना न चाहता हो? जीना चाहने वाला निश्चित ही मरना चाहता है। पुण्य की इच्छा करने वाला निश्चित ही पाप की इच्छा कर रहा है। इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। जीवन और मरण को बांटा नहीं जा सकता। पुण्य और पाप को पृथक नहीं किया जा सकता। ये युगल हैं। इनको अलग-अलग देखा जा सकता है, किंतु अलग किया नहीं जा सकता। अलग देखना एक बात है, किंतु अलग करना सर्वथा दूसरी बात है। अलग रूप में आप देख रहे हैं कि यह पुण्य है और यह पाप है। किंतु अलग किया नहीं जा सकता। जीवन और मरण को अलग देखा जा सकता है, किंतु विभक्त नहीं किया जा सकता।

आचार्यश्री भिक्षु ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि जो व्यक्ति पुण्य की इच्छा कर रहा है, वह पाप की इच्छा कर रहा है। वह कामभोग की इच्छा कर रहा है। और जो कामभोग की इच्छा कर रहा है वह संसार-चक्र की, जन्म-मरण, शोक-हर्ष—पूरे चक्र की इच्छा कर रहा है।

आचार्यश्री भिक्षु ने चैतन्य-जागरण का बहुत बड़ा सूत्र दिया—'तुम पुण्य की इच्छा मत करो। केवल चैतन्य-जागरण की इच्छा करो।' शायद पूरे धार्मिक और अध्यात्म के इतिहास के इस सूत्र की घोषणा विरल व्यक्तियों ने की है। उनमें एक प्रमुख प्रवक्ता हैं—आचार्यश्री भिक्षु।

चैतन्य सुषुप्त होता है और चैतन्य जागता है। एक सोया हुआ बच्चा और एक जागा हुआ बच्चा। एक सोया हुआ चैतन्य और एक जागा हुआ चैतन्य—हमारी ये दो अवस्थाएं हैं। जब अहंकार और ममकार प्रबल होते हैं—चैतन्य सो जाता है। जब अहंकार और ममकार कम होते हैं—चैतन्य जाग जाता है। जब चैतन्य सोया हुआ होता है, तब चलता है पक्षपात का दौर और जब पक्षपात होता है तब हिंसा, झूठ, चोरी, काम-वासनाएं—ये सारी प्रतिक्रियाएं पैदा होती हैं।

हिंसा कोई मूल बात नहीं है। असत्य और चोरी कोई मूल बात नहीं है। अब्रह्मचर्य कोई मूल बात नहीं है। मूल बात है—परिग्रह। ये सब उसकी प्रतिक्रियाएं हैं। लोगों ने

कहा—'अहिंसा परमो धर्मः।' मैं समझता हूं कि जैन शासन का एक घोष यह भी होना चाहिए—'अपरिग्रहः परमो धर्मः।' अधर्म का मूल है—परिग्रह, न कि हिंसा। परिग्रह के लिए हिंसा होती है, न कि हिंसा के लिए परिग्रह। मूल जड़ है—परिग्रह। भगवान महावीर ने सूत्रकृतांग सूत्र में इस पर बहुत विस्तार से प्रकाश डाला है। तीन प्रकार का परिग्रह होता है—शरीर-परिग्रह, कर्म-परिग्रह और द्रव्य-परिग्रह। हमने तो परिग्रह मान लिया धन को, कपड़ों को, मकान को। ये मूल परिग्रह नहीं हैं। परिग्रह का मूल कारण है—शरीर। उसका दूसरा कारण है—कर्म, संस्कार। आदमी ने संस्कारों का परिग्रह कर रखा है। उसके पास बड़ा परिग्रह है—शरीर। शरीर के लिए वह वस्तुओं का परिग्रह करता है और फिर उनके लिए हिंसा आदि का जाल बिछाता है।

तेरापंथ ने अध्यात्म के एक प्रयोग का सूत्रपात किया। उसमें शरीर के ममत्व का त्याग मुख्य है। आचार्यश्री भिक्षु ने कहा, 'विनीत साधु वह होता है जो गुरु के आदेश देने पर धूप में खड़े-खड़े सूख जाने में भी प्रसन्नता का अनुभव करता है। अपने शरीर की चिंता नहीं करता। उसके ममत्व को त्याग देता है।'

महासती गुलाबां छोटी थी। वह इधर-इधर घूमती रहती। एक बार जयाचार्य ने उसे बार-बार चक्कर लगाते देख लिया। जयाचार्य ने कहा, 'गुलाबां! जा, उस आले में बैठ जा।' वह तत्काल गई, वहां बैठ गई। भोजन का समय हो गया। सब साधु-साध्वियां आहार करने बैठ गए। साध्वियों का ध्यान गया। उन्होंने देखा कि वह छोटी साध्वी गुलाबां नहीं है। खोजा गया। खोजते-खोजते देखा कि वह दुबकी हुई-सी एक आले में स्थिर बैठी है। साध्वियों ने कहा, 'चलो, आहार करो।' उसने कहा, 'नहीं, आचार्यश्री ने मुझे यहां बैठने के लिए कहा है। उनकी आज्ञा के बिना मैं नहीं चलूंगी।' साध्वियां जयाचार्य के पास गईं। गुलाबां की स्थिति बताई। जयाचार्य ने कहा, 'उसे यहां बुला लाओ।' गुलाबां आई। आचार्य ने पूछा, 'अरे! इतनी देर वहीं बैठी रही! आहार करने क्यों नहीं आई?' उसने कहा, 'गुरुदेव! आपने तो वहां बैठ जाने के लिए कहा था, आने के लिए तो कहा ही नहीं था। आपकी आज्ञा के बिना कैसे आती?'

यह है तेरापंथ में शरीर के ममत्व का विसर्जन। तेरापंथ के उत्तरोत्तर विकास का मर्म यही है। ❖

हमें शिक्षा की विभिन्न प्रक्रियाओं में प्राथमिकता का क्रम भी बदलना होगा। सर्वाधिक महत्त्व नैतिक मूल्यों के सृजन पर देना होगा (जिन्हें आजकल निम्नतम प्राथमिकता दी जाती है)। दूसरा स्थान हुनरों के विकास को दिया जाएगा (विशेषतः सामाजिक और उत्पादक हुनर) और सूचना संचय का महत्त्व काफी कम करना होगा (जिसे आजकल सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है)। इसी तरह शिक्षा प्रणाली के आधारभूत विकास के मूल्यों में भी संशोधन करने होंगे। उदाहरणतः अब उसका आधार उदारवाद, व्यक्तिवाद और प्रतियोगिता नहीं रह सकता। हम अब उसे सामाजिक विकास और सहकारिता की पक्की नींव पर स्थापित करेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य मूल्यों को और अधिक महत्त्व दिया जाएगा, जैसे—सामाजिक न्याय और समानता के मूल्य; व्यक्ति की स्वायत्तता और उत्तरदायित्व की नैतिक अवधारणाएं; आत्मनियंत्रण; और दूसरे के लिए चिंता। यदि इन मौलिक परिवर्तनों को स्वीकार कर लिया जाता है तो शिक्षा प्रणाली के अंतर्विषय और संगठन में भी परिवर्तन करने होंगे।

—जे. पी. नाईक

सांप्रदायिकता और इतिहास अध्ययन

प्रो. बिपनचंद्र

❑

सामाजिक वैमनस्य और हिंसा की निरंतर बढ़ रही घटनाओं की जड़ों में सांप्रदायिकता जिस सघन रूप से उपस्थित रही और मानव जीवन प्रभावित हुआ—पिछले कुछ समय से घटित घटनाओं से यह जाहिर है। सांप्रदायिकता से समाज को किस तरह मुक्त रखा जाए, यह भी गहरा चिंतनीय सवाल है। जो लोग अहिंसा और शांति की अलख जगाने में सक्रिय हैं उनके लिए यह जरूरी है कि इस सवाल के समाधान के लिए सांप्रदायिकता के इतिहास में थोड़ा झाकें। देश के प्रमुख विचारक और इतिहासकार प्रो. बिपनचंद्र ने सांप्रदायिकता से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर अपने विचार रखे हैं। प्रो. बिपनचंद्र जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आधुनिक भारतीय इतिहास के प्रोफेसर रहे हैं। देश-विदेश में विख्यात प्रो. बिपनचंद्र ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जो सर्वत्र चर्चित रही हैं। देश की ज्वलंत समस्या पर प्रो. बिपनचंद्र का 'जैन भारती' के पाठकों के लिए यह आलेख—

अब यह मान्यता व्यापक स्तर पर स्वीकृति पा चुकी है कि पिछले सौ वर्षों से अधिक समय में सांप्रदायिकता का जो प्रसार हुआ है, उसमें स्कूलों-कॉलेजों में भारतीय इतिहास के शिक्षण की बहुत बड़ी भूमिका है।

दरअसल, सांप्रदायिकता का एक आधार भारतीय इतिहास का सांप्रदायिक विश्लेषण है। यह दृष्टिकोण व्यापक रूप से मौजूद है और इसीलिए खतरनाक है क्योंकि हम बचपन में ही इसके शिकार हो जाते हैं। परिणाम यह है कि हम सभी ने सांप्रदायिक दृष्टि-बिंदु के चिह्नों को आत्मसात कर रखा है, हालांकि हम अक्सर उससे बेखबर होते हैं। उदाहरण के लिए हममें से अधिकांश ने यह सोचना सीखा है कि भारतीय इतिहास का प्राचीन युग गौरव और महानता का युग था और मध्यकाल पतन और ह्रास का।

यह समझना जरूरी है कि मुस्लिम लीग ने सर्वप्रथम दो राष्ट्रों के सिद्धांत को जन्म नहीं दिया था जिससे भारत का विभाजन हुआ। मुस्लिम लीग से बहुत पहले ब्रिटिश लेखकों ने और उनके अनुयायियों ने और संप्रदायवादी लेखकों ने यह काम किया था। उन्होंने इस विचार को जन्म दिया और फैलाया कि भारतीय राष्ट्र का अर्थ है—हिंदू राष्ट्र, कि तुर्क, अफगान और मुगल बादशाहों का शासन 'विदेशी शासन' था और राजपूत राजाओं, मराठा सरदारों का शासन भारतीय अथवा हिंदू शासन था। इस्लाम धर्म मानने वाले भारतीय शासकों का राज्य-शासन विदेशी कैसे हो सकता है? क्योंकि वे मुसलमान थे—उनका जवाब था। इस प्रकार भारत के विभाजन का आंशिक स्रोत भारतीय इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या में निहित है। इस तरह की व्याख्याएं पहले अंग्रेज लेखकों ने कीं और फिर उनका अनुगमन करते हुए हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिक लेखकों ने। यह लेखकों का वही 'स्कूल' है जिसमें क्षेत्रीय अंधराष्ट्रवादी भी आ मिले हैं और जिनकी शिक्षाएं राष्ट्रीय एकता और अखंडता को निरंतर कमजोर कर रही हैं।

लोग कभी-कभी पूछते हैं : इतने व्यापक पैमाने पर सांप्रदायिक इतिहास लेखन कैसे संभव हुआ? इसका इतना अधिक प्रभाव कैसे है जबकि वह सही, प्रामाणिक इतिहास और वैज्ञानिक विश्लेषण के विरोध में पड़ता है?

ऐसा इस कारण से है कि वह हमारे पूर्वग्रहों के अनुकूल पड़ता है और इसलिए भी अंग्रेजी शासन के तहत अधिकारियों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति के तहत सांप्रदायिक इतिहास-लेखन को बढ़ावा दिया। इसके अतिरिक्त ऐसा केवल भारत में ही नहीं हुआ कि पूर्ण रूप से गलत और निराधार विचारों का प्रसार इतने व्यापक पैमाने पर किया गया। जर्मनी में हिटलर के शासन के तहत सैकड़ों इतिहासकारों ने जर्मन जाति को श्रेष्ठ बताने वाले नाजी सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए हजारों पुस्तकें लिखीं। हमारे देश में भी सैकड़ों अंग्रेज लेखकों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि भारतीय स्वशासन के योग्य नहीं हैं, उनकी सभ्यता ने उन्हें केवल खेती-बाड़ी के योग्य बनाया है, आधुनिक उद्योगों के योग्य नहीं। आज भी किसी-न-किसी रूप में नस्लवादी सिद्धांत कुछ देशों में लोकप्रिय है।

इसके अलावा, भारतीय इतिहास-लेखन की एक प्रमुख कमजोरी राजनीतिक घटनाओं, युद्ध और कूटनीति पर सर्वाधिक बल देने में दिखाई पड़ी। इससे भी सांप्रदायिक दृष्टिकोण को बल मिला है।

हाल के वर्षों तक इतिहास-लेखन बादशाहों और उनके लोगों के कामों के वर्णन तक सीमित था। और उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास को नजरअंदाज कर दिया जाता था। तथापि गद्दी के लिए होने वाले युद्धों से कहीं अधिक महत्त्व लेखन, कागज और छपाई के आविष्कारों का है। इसी तरह वैज्ञानिक और तकनीकी विकास को युग की प्रगति का सूचक मानना चाहिए; न कि राज्य-सीमाओं के विस्तार को। हमें कृषि और उद्योगों के विकास में प्रगति देखनी चाहिए, शासकों द्वारा बेहतर प्रशासन तंत्र के निर्माण में नहीं, क्योंकि उसके जरिए भूमिकर वसूला जाता था और फिर उसे युद्धों और विलासितापूर्ण जीवन पर खर्च किया जाता था।

इसी तरह, नारी की स्थिति में बदलाव, विवाह, परिवार और जाति जैसी सामाजिक संस्थाओं में विकास आदि का साधारण जनता के लिए कहीं अधिक अर्थ है बनिस्बत राजाओं, सामंतों और जमींदारों के युद्धों और विद्रोहों के।

इसके अतिरिक्त साधारण जनता का, उनके जीवन और संघर्षों का इतिहास हाल तक के इतिहास-लेखन में उपेक्षित रहा है।

शासकों और शासक वर्गों के राजनीतिक जीवन के इतिहास पर बल देने की गलत प्रवृत्ति ने सांप्रदायिक इतिहास-दृष्टि के निर्माण में दो तरह से मदद की है।

पहला, प्राचीन और मध्ययुगीन समाज का इतिहास; इतिवृत्त लिखने वाले अधिकांश लेखक पुरोहित वर्ग से आते थे क्योंकि उस समय का शिक्षित वर्ग वही होता था। उनके धार्मिक हित और दृष्टिकोण उनके लेखन को गंभीर रूप से विकृत और परिसीमित करते थे। वे अक्सर धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक घटनाओं को भी धार्मिक नजरिए से देखते थे। वे शासकों और सरदारों को भी देवदूत के रूप में चित्रित करते थे। इसके अतिरिक्त, वे बादशाहों, सामंतों, राजाओं और जमींदारों की सहायता पर निर्भर करते थे। इसलिए उन्होंने उनके स्वार्थी कार्यों में भी धार्मिक पुण्य देखने की कोशिश की। हिंसक युद्धों, दरबारी कुचक्रों, दैनंदिन राजनीतिक और प्रशासनिक नीतियों को धार्मिक भाव से परिचालित समझा जाता था। अपनी जमींदारी और राज्य के विस्तार के लिए दूसरों को जीतने की कोशिश अथवा संघर्ष को धर्मोत्साह के कार्य के रूप में देखा गया। इस प्रकार, अशोक, चंद्रगुप्त, सुल्तानों, मुगलों, मराठा सरदारों और राजपूत राजाओं के शासन को तत्कालीन लेखकों ने अक्सर धार्मिक शब्दावली में चित्रित किया है।

> जो भी हो, मगर इतिहास का अध्ययन व्यापक अर्थ में हो तो सांप्रदायिक इतिहास-दृष्टि अपने-आप खत्म हो जाती है। उदाहरण के लिए आर्थिक इतिहास वर्ग-हितों, वर्गीय एकजुटता एवं वर्गीय शत्रुता को उजागर करता है जो धार्मिक आग्रहों को समाप्त कर देता है। एक हिंदू किसान की स्थिति मुस्लिम किसान के समान ही होती है। दोनों का ही हिंदू या मुस्लिम जमींदारों या सूदखोरों से समान रूप से वास्ता पड़ता है। आगरा के बुनकर—चाहे हिंदू हों या मुसलमान, दोनों की स्थिति एक समान है। दूसरे शब्दों में उत्पादक वर्ग और उपभोक्ता वर्ग के बीच बंटे हुए समाज के भीतर आर्थिक रेखा के दोनों ओर बहुत-से धार्मिक समूह हो सकते हैं।

यह केवल भारत के बारे में ही सच नहीं है। यूरोप के प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहासकारों के बारे में भी यह समान रूप से सच है। मगर 19वीं और 20वीं सदी के यूरोपीय इतिहासकारों ने क्रमशः धार्मिक पूर्वग्रहों को छोड़ना शुरू किया; उदाहरणार्थ मध्ययुग के धार्मिक जेहादों, पोप और राजाओं के अध्ययन में। 16वीं तथा 17वीं सदी के पुर्तगाली तथा स्पेनी जाति के साम्राज्य-विस्तार को उस समय ईसाइयत के प्रसार की इच्छा से जोड़कर चित्रित किया जाता था। आज कोई भी यूरोपीय इतिहासकार इसे मुख्य तत्त्व के रूप में स्वीकार

नहीं करेगा—चाहे उसे पुर्तगालियों या स्पेनियों की निंदा करनी हो या प्रशंसा।

दुर्भाग्य से 19वीं और 20वीं सदी के भारतीय इतिहासकारों ने प्राचीन और मध्ययुगीन लेखकों के धार्मिक दृष्टिकोण को अपनी रचनाओं में ग्रहण किया और इस प्रकार सांप्रदायिक व्याख्या में योग दिया। उदाहरणार्थ आज तक सांप्रदायिक इतिहासकार, चाहे वह हिंदू हों या मुस्लिम, महमूद गजनी के हमलों को धार्मिक भावना से प्रेरित बतलाते हैं। वे मध्ययुगीन भारत के राजनीतिक संघर्षों को, चाहे वह राणा प्रताप और अकबर के बीच हों, अथवा शिवाजी और औरंगजेब के बीच, धार्मिक संघर्ष के रूप में देखते हैं।

दूसरा, सैन्य, कूटनीतिक अथवा राजनीतिक इतिहास के संदर्भ में मजहब की भूमिका महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ सकती है। जब युद्ध लड़े जाते हैं अथवा संधियां की जाती हैं तब अनेक तत्त्व काम कर रहे होते हैं। वास्तविक मुद्दों को अक्सर पर्दे में रखा जाता है। धर्म के साथ ही वैवाहिक संबंधों, रिश्तेदारी, भाषा, जाति, क्षेत्र आदि की दुहाई दी जाती है। इस मामले में जैसा पहले होता था वैसा आज भी हो रहा है। आज किसी राज्य द्वारा नंगा हमला भी किसी भव्य आदर्श के आवरण में रखा जाता है। अंतर यह है कि आज जो इतिहासकार सरकारी भाष्य को स्वीकार कर लेता है वह हंसी का पात्र बनता है। मगर अनेक इतिहासकारों ने अतीत के शासकों और दरबारी लेखकों की सरकारी व्याख्या को स्वीकार किया है।

जो भी हो, मगर इतिहास का अध्ययन व्यापक अर्थ में हो तो सांप्रदायिक इतिहास-दृष्टि अपने-आप खत्म हो जाती है। उदाहरण के लिए आर्थिक इतिहास वर्ग-हितों, वर्गीय एकजुटता एवं वर्गीय शत्रुता को उजागर करता है जो धार्मिक आग्रहों को समाप्त कर देता है। एक हिंदू किसान की स्थिति मुस्लिम किसान के समान ही होती है। दोनों का ही हिंदू या मुस्लिम जमींदारों या सूदखोरों से समान रूप से वास्ता पड़ता है। आगरा के बुनकर—चाहे हिंदू हों या मुसलमान, दोनों की स्थिति एक समान है। दूसरे शब्दों में उत्पादक वर्ग और उपभोक्ता वर्ग के बीच बंटे हुए समाज के भीतर आर्थिक रेखा के दोनों ओर बहुत-से धार्मिक समूह हो सकते हैं।

सामाजिक-आर्थिक इतिहास यह प्रकट करता है कि सुल्तानों और मुगलों के काल में बुनियादी रूप से कोई मुस्लिम शासन नहीं था। सभी मुसलमान शासक वर्ग के नहीं थे और न ही तमाम हिंदू शासित-शोषित वर्गों के। मुस्लिम जन-समुदाय उतना ही गरीब और उत्पीड़ित था जितना कि हिंदू जन-समुदाय। दोनों ही तरह के लोग शासकों, सामंती सरदारों और जमींदारों की नजरों में, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, निम्न प्राणी के रूप में देखे जाते थे।

सामाजिक इतिहास से यह प्रकट होता है कि अगर हिंदू लोग जाति-वर्ण में बंटे हैं तो मुसलमानों के बीच भी श्रेष्ठ (शरीफ) मुस्लिम और निम्न (अजलफ) मुस्लिम हैं।

शासन के इतिहास से यह प्रकट होता है कि मुगलों और मराठों के प्रशासनिक तंत्र में एक निरंतरता है। इससे साफ हो जाएगा कि प्राचीन और मध्यकाल में हिंदू अथवा मुस्लिम चरित्र की बात करना कितना गलत है।

सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास सांस्कृतिक सहयोग और अंखडता की ताकतों को सामने लाता है। उससे यह भी पता चलेगा कि मध्य काल के साथ आधुनिक भारत में एक उच्चवर्गीय मुसलमान का सांस्कृतिक जीवन एक निम्नवर्गीय मुसलमान की अपेक्षा एक उच्चवर्गीय हिंदू से अधिक मेल खाता है। अथवा एक पंजाबी हिंदू बंगाली हिंदू की तुलना में सांस्कृतिक दृष्टि से पंजाबी मुस्लिम के अधिक निकट पड़ता है।

सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास धार्मिक भेदों के बजाय सामाजिक भेदों और अनेकता को सामने लाएगा; उदाहरण के लिए पंथ और जातिगत भेदों को। 18वीं शताब्दी के दक्षिण भारत में दक्षिण और वाम जातियों के बीच भयानक संघर्ष होते थे। राजनीतिक इतिहास के सावधानीपूर्वक अध्ययन से यह पता चलेगा कि दुनियाभर की राजनीति की तरह ही भारतीय राज्यों की राजनीति धर्म के बजाय मुख्यतः आर्थिक-राजनीतिक हितों से संचालित होती थी। तब आज की तरह ही शासक और विद्रोही दोनों ही, धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल भौतिक हितों और उद्देश्यों के कठोर सत्य को छुपाने के लिए करते थे।

इसके अतिरिक्त, राजनीतिक घटनाओं और आंदोलनों को उनके बुनियादी सामाजिक और आर्थिक अनुक्रम में रखकर देखा जाना चाहिए। कौन निर्णय करता है? किसका प्रभुत्व है? राजनीतिक तंत्र से किसे लाभ होता है? कोई तंत्र किस तरह से संचालित होता है? क्यों किसी खास तरह का 'नीति-पैटर्न' लक्षित होता है और अन्य तरह का नहीं? इस तरह के सवाल हमें जरूर उठाने चाहिएं।

उदाहरण के लिए हमें किसानों, व्यापारियों और सूदखोरों के प्रति औरंगजेब और शिवाजी की नीतियों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए अथवा प्राचीन और मध्ययुग के राज्यतंत्र किस तरह के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संबंधों का समर्थन करते थे। प्राचीन और मध्यकाल में विभिन्न सामाजिक वर्गों और समूहों के बीच किस तरह आर्थिक लाभों, सामाजिक प्रतिष्ठा और राजनीतिक शक्ति का बंटवारा होता था। किस हद तक बाद के तुर्क और मुगल शासकों ने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्ति के तत्कालीन 'पैटर्न' को प्रभावित या विकृत किया।

इस तरह का सरल जनसांख्यिकीय तथ्य कि 1901 में राजपूताना में राजपूतों की आबादी मात्र 6 प्रतिशत थी, बहुत-सारी बातों को उजागर कर देता है। इसी तरह आधुनिक राजनीतिक आंदोलनों के सामाजिक विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि हिंदू और मुस्लिम संप्रदायवादियों का सामाजिक आधार समान था। दोनों ही समान रूप से साम्राज्यवाद समर्थक राजनीतिक दृष्टिकोण रखते थे।

निष्कर्षतः इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सांप्रदायिक इतिहास-दृष्टि न केवल तथ्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक तरीके से गलत है, अपितु वह अवैज्ञानिक राजनीति की उपज है जिसे पहले विदेशी शासकों ने जन्म दिया और फिर उसका इस्तेमाल अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए संप्रदायवादियों ने किया। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें, हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कर्तृत्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होंगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अंतःकस्तूरी गंध : बहिर पंचाट

डॉ. राजानंद

❑

'जैन भारती' ने अपने प्रकाशन के पचास वर्ष पूर्ण कर इक्यावनवें वर्ष में प्रवेश कर लिया है। वर्ष 2002 'जैन भारती' का 'स्वर्ण जयंती वर्ष' रहा। 'स्वर्ण जयंती वर्ष' के प्रकाशित अंकों पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डाल रहे हैं—जाने-माने लेखक, समालोचक डॉ. राजानंद। उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान और राजस्थान साहित्य अकादमी से सम्मानित-पुरस्कृत डॉ. राजानंद साहित्य की सभी विधाओं (कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और समालोचना) पर समान अधिकार रखते हैं। अब तक कोई तीन दर्जन से अधिक पुस्तकें इन विधाओं पर प्रकाशित हो चुकी हैं। 'गांधी युग : दशा-दिशा' पुस्तक उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ से पुरस्कृत कृति है। गांधी विचार, शिक्षा और संस्कृति पर भी आपकी पुस्तकें प्रकाशित हैं। 'जैन भारती' एक समालोचक की नजर में—

कोई भी समय या काल-खंड न सरल होता है, और न सहज ही होता है। समाज भी जटिलताओं का एक गुंफन है और समस्याओं का भी उर्वर जनक होता है तथा व्यक्ति-इकाई—जो उसका वाहक व भोक्ता होता है—बहुधा भ्रमित रहता है। संस्थाएं—वे चाहे जिस प्रकृति व प्रवृत्ति की हों, वह उनसे छुटकारा नहीं ले सकता और वे अपने दबाव की प्रखरता भी बनाए रखती हैं। ये समस्याएं और दबाव ही चिंतन को प्रेरित करते हैं। समस्याएं जितनी गोलबंदी से आक्रामक तेवर अपनाती हैं, व्यक्ति उतना ही बेचैन और आंतरिक त्रास में रहता है।

यह भी सत्य है कि आम आदमी या तो परिस्थितियों के सामने समर्पण कर देता है और उद्देश्यहीन होकर बहाव में बहता जाता है, या खुद को समझने से कतराता है। एक तीसरी स्थिति भी होती है जब वह मानसिक हताशा में किसी विचारणा की शरण स्वीकार कर लेता है। यह वह स्थिति है जिसे हम अंधानुकरण कहते हैं। वह अस्मिता और क्षमताओं से बेखबर हुआ रहता है। उपर्युक्त स्थितियां वास्तव में मानव-विरोधी हैं, क्योंकि इनमें वह अपने अस्तित्व को ही नकारता होता है।

इसके विपरीत स्थिति वह है जब व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत और पारिवेशिक स्थितियों को समझे, उन्हें आंके-परखे और हितकारी हों तो सजगता से अपनाए, अहितकर हों तो खारिज कर दे, इसे ही विवेक कहते हैं— मनुष्य की यही तो सबसे मूल्यवान पूंजी है, जो उसे पशु से बेहतर और महत्त्वपूर्ण बनाती है। विवेकवान चैतन्य समाज ही 'मानक-समाज' माना जा सकता है। इसके बरक्स वह समाज मूर्च्छित-समाज कहा जाएगा जो गतिशील कितना भी हो, परंतु लक्ष्यहीन होता है। जिसे यही पता नहीं कि उसकी गति की दिशा कौन-सी है। गति साध्य नहीं हो सकती—साध्य वह होता है जहां पहुंचना अभीप्सित होता है।

राष्ट्रों के इतिहास में जिन काल-खंडों को स्वर्ण-युग के रूप में रेखांकित किया गया है, वह काल सर्वआयामी विकास-समय-खंड है और यह भी कि वे मनुष्य चिंतनपरक संस्कृति एवं सभ्यता के प्रकाशक हैं। उनकी बुनावट में परंपरा का ताना-बाना रहा है तो नव-दर्शन तथा जागरण की फुलकारी भी रही है।

ध्यान रहना चाहिए कि मानवीय जीवन का विकासात्मक प्रवाह जब भी अवरुद्ध और बाधित हुआ है

तभी उसकी चिंतन-क्षमता के समक्ष चुनौतियां खड़ी हुईं हैं। उसने प्रवाह के सातत्य को बनाए रखने के लिए देश तथा परस्थितियों से उत्प्रेरित होकर अपने अंतर को टटोला है। यही उसका वह अजस्र, अखूट स्रोत रहा है, जिसने उसे नव-चिंतन, नव-दृष्टि तथा पुनर्संजीवनी जीवन-शैली दी है।

इस प्रस्तावना के साथ मैं तेरापंथ धर्मसंघ की मासिक पत्रिका **'जैन भारती' के वर्ष 2002 के प्रकाशित अंकों का अवलोकन करने का प्रयास कर रहा हूं।** मुझे स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं है कि मैं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चिंतन तथा पत्रिका के संपादक शुभू पटवा के समय-सरोकारी खुले विचारों से प्रभावित रहा हूं। **'जैन भारती'** के सौष्ठवपूर्ण कलेवर की बात अलग है, पर महत्त्व उस दृष्टि का है जो प्रेरक सामग्री का संकलन-सुसंपादन प्रस्तुत करती है। जो हमारे उलझे हुए विचारों को सुलझाने के लिए संकेतक 'झटके' देती है। नकारात्मक तथा पस्त हुए, बल्कि पलायनी सोच को विधायकता की तरफ उन्मुख करती है।

फरवरी, 2002 के संपादकीय **प्रसंग** की कुछ पंक्तियां विचारणीय हैं। किसी विचारक का हवाला देते हुए शुभू पटवा लिखते हैं—'संस्था एक आदमी की बढ़ी हुई परछाईं है। परछाईं में जीवन नहीं होता, रंग नहीं होता, स्वतंत्र शक्ति नहीं होती। पंथ भी जड़, विविधताविहीन और अनुगामी प्रकृति का होता है। बुद्ध, शंकर, कबीर और गांधी स्वतंत्र खोज-शक्ति के पुंज थे, किंतु इनकी शक्ति पंथों में विलीन हो गई।'

अपने इसी संपादकीय में तेरापंथ के संबंध में वे लिखते हैं—'निश्चय ही तेरापंथ के नियंत्रक इसके शक्ति-पुंज रहे हैं, पर उन्हीं की बढ़ी हुई परछाईं में 'तेरापंथ' बद्ध नहीं रहा।'

संपादक प्रतिविचार समक्ष रखता है : ''पंथ' की संकीर्णता से सजग रहने की बात सर्वथा सही है, पर किसी अच्छाई को खुली आंख से मात्र इसलिए न देखना कि वह एक 'पंथ'-विशेष में है—क्या स्वयं में संकीर्ण दृष्टि नहीं? खुलेपन के संपोषक इस 'संकीर्णता' को छोड़कर नीर-क्षीर करें तो समग्र समाज को नई दृष्टि मिल सकती है, तब मर्यादा की जिजीविषा जगाने के सामूहिक प्रयास भी किए जा सकते हैं।'

> व्यक्ति का व्यक्तित्व त्रि-आयामी होता है—मानसिक, भावात्मक और कर्मप्रधान। साहित्य सृजन मानसिक, भावात्मक तथा यथार्थप्रेरित तत्त्वों के योग से परोक्ष-अपरोक्ष रूप में जीवन को संबल देता है। वह उजागर-धर्मी होता है। व्यक्ति की दृष्टि-निर्मिति के लिए विविधकोणीय चिंतन सामग्री होनी चाहिए, लक्ष्यप्राप्ति के लिए भावात्मक सकल्प चाहिए और सकल्प से पुष्ट दृढ़-चरित्र चाहिए। चारित्रिक गतिमयता से प्रेरित कर्म ही अभीष्ट प्राप्त कर सकता है।

प्रासंगिक समस्याओं की परस्पर की लड़त में तथा सृजनात्मक चिंतन के अकाल में, कहीं से भी प्रयोगात्मक विचार मिलें, उनसे परहेज रखना क्या अपने में छाए कुहासे में भटकना नहीं है?

जुलाई, 2002 के अंक में आचार्यश्री तुलसी के दिए गए विचारों को समझना आवश्यक है। आचार्य भिक्षु (तेरापंथ संस्थापक) को 'महान क्रांतदर्शी' बताते हुए आचार्यश्री तुलसी लिखते हैं—'उन्होंने 'पीठ' नहीं चुना, किंतु 'पंथ' चुना। 'पीठ' स्थिर—रूढ़ होता है और 'पंथ' गतिशील। 'पीठ' अमुक-अमुक के लिए होता है और 'पंथ' सबके लिए। जो 'पंथ' सबके लिए नहीं होता, वह लंबे समय तक गतिशील भी नहीं होता।'

आचार्यश्री तुलसी सांप्रदायिकता और संप्रदाय में स्पष्ट भेद करते हैं—'मैं संप्रदाय को गतिशील परंपरा के अर्थ में स्वीकार करता हूं। जबकि सांप्रदायिकता रूढ़ परंपरा में पनपती है।'

धर्म-वरण की इससे साफ और खुली व्याख्या क्या हो सकती है—'धर्म के लिए वह प्रत्येक व्यक्ति अधिकृत है—जिसकी अंतर्चेतना उद्‌बुद्ध हो उठे, भले वह किसी भी परंपरा का अनुगमनकारी हो।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की चिंता और चिंतन को समझने की भी आवश्यकता है, ताकि यह जाना जा सके कि उनका विशिष्ट सरोकार आध्यात्मिक होकर भी वर्तमान से कितना प्रेरित है।

नैतिक मूल्यों के संकट के संबंध में वे कहते हैं—'इस संकट की बात सब करते हैं, इस पर गंभीर चिंतन नहीं होता।' वे प्रश्न करते हैं—'गंभीर चिंतन कौन करे? सत्ता के सिंहासन पर बैठे लोग अगले चुनाव में अपने दल को विजयी बनाने की चिंताएं करते हैं। बड़े उद्योगपति और बड़े व्यवसाई राजनीति पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की चिंता में व्यस्त हैं। बड़े-बड़े साधु-संन्यासी अपने आश्रम और पीठों की ओर जनता को आकृष्ट करने की चिंता में व्यस्त हैं। नैतिक मूल्यों के विकास की चिंता कौन करे और क्यों करे?.....आज अपेक्षा है उस

व्यक्तित्व की जो जातिवाद व सांप्रदायिक कट्टरवाद की भूमि से ऊपर उठा हुआ हो। समस्या को सुलझाने के लिए यह मानदंड मेरी दृष्टि में पर्याप्त नहीं है। दो बातें और अपेक्षित हैं—सतत समर्पण और गंभीर चिंतन।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार गंभीर चिंतन से तात्पर्य है—'समस्या के उपादान अथवा मूल कारण पर चिंतन होना चाहिए।' मूल कारण है : हर आदमी का लक्ष्य, अधिकतम उपभोग, अधिकतम सुविधा और अधिकतम धन। **(जैन भारती, जनवरी, 2002)**

जैन भारती का केंद्रीय उद्देश्य और इसके प्रकाशन के द्वारा क्या अपेक्षाएं हैं, ये हर माह प्रकाशित अंकों से आसानी से समझे जा सकते हैं। **जैन भारती** की प्रकाशनीय सामग्री इसी दृष्टि से चयनित, संकलित की जा रही है। इसी में इसकी समसामयिक उपयोगिता है तथा महत्त्व भी।

अब **जैन भारती** के सन् 2002 के अंकों का सरसरा आकलन किया जा सकता है—सरसरे तौर पर इसलिए कि यह संभव ही नहीं है कि हर अंक में प्रकाशित विमर्शप्रधान लेख, अनुभवजन्य आलेख, शीलन के अंतर्गत चारित्रिक संपुष्टि करने वाले साध्वियों तथा मुनियों के आलेख, कहानियों तथा कविताओं का ब्यौरेवार विश्लेषण किया जा सके, खास तौर से मार्च, अप्रैल, मई, 2002 का संयुक्त विशेषांक, जो स्वर्ण जयंती वर्ष के उपलक्ष्य में जैन दर्शन की केंद्रीय स्थापना **अनेकांत** पर निकाला गया है।

मेरा ध्यान इस तथ्य की तरफ भी जा रहा है कि संपादक महाशय ने सामग्री का कोटिकरण—प्रसंग, विमर्श, अनुभूति, शीलन, शीर्षकों में क्यों किया? और एक आध्यात्मिक-धार्मिक, धर्मसंघ द्वारा प्रकाशित पत्रिका में कहानियों, कविताओं, बाल कहानियों को देना क्यों आवश्यक समझा? क्या इसलिए कि **जैन भारती** भी विभिन्न रुचियों वाले पाठकों को संतुष्ट कर सके? तब तो पाठक अपनी रुचि की सामग्री पढ़ लेगा, शेष को छोड़ देगा। लेकिन उपर्युक्त शीर्षक और कहानियां-कविताएं दूसरी तरह की व्यंजना भी जागृत करती हैं। उसकी तरफ संकेत करना उचित होगा। इनको यूं भी समझा जा सकता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व त्रि-आयामी होता है—मानसिक, भावात्मक और कर्मप्रधान। साहित्य सृजन मानसिक, भावात्मक तथा यथार्थप्रेरित तत्त्वों के योग से परोक्ष-अपरोक्ष रूप में जीवन को संबल देता है। वह उजागर-धर्मी होता है। व्यक्ति की दृष्टि-निर्मिति के लिए विविधकोणीय चिंतन सामग्री होनी चाहिए, लक्ष्यप्राप्ति के लिए भावात्मक संकल्प चाहिए और संकल्प से पुष्ट दृढ़-चरित्र चाहिए। चारित्रिक गतिमयता से प्रेरित कर्म ही अभीष्ट प्राप्त कर सकता है। संपादकीय 'प्रसंग' का महत्त्व इसलिए है कि निरंतर दौड़ते जा रहे समय, तीव्रता से घटित हो रहे परिवर्तनों और उनसे पैदा होने वाली समस्याओं, कारक तत्त्वों और संभावित समाधानों की तरफ ध्यान आकर्षित किया जा सके। आज जबकि शब्द स्वयं विकृतियों के कारण अर्थहीन होते जा रहे हैं और मनुष्य चारित्रिक विच्युतियों की वजह से अपने में ही अबूझ-सा बन रहा है व समझदार नासमझ हो गया है, तब विश्लेषणात्मक टिप्पणियों से उसको समाधानात्मक संकेत देना व उसके आवरित अंतः को कुरेदना, सजग करना, युगीन धर्म-कर्म की मानिंद ही महत्त्वपूर्ण है। अलबत्ता आंखों पर पट्टी-बंधे की पट्टी खोलना आसान है, पर सावन के अंधे को यह चेतना देना या उसमें यह चेतना विकसित करना कि जो हरा-हरा देख रहा है वह भ्रमित रुग्णता है—बड़ा दुष्कर कार्य है।

'सचमुच! दूसरों को देखते-देखते हम थक गए हैं। अब तो स्वयं को स्वयं के द्वारा देखना जरूरी है। प्रेक्षा करना जरूरी है—तभी मानसिक समस्याएं शांत हो सकेंगी।'

(जैन भारती, प्रसंग, जनवरी, 2002)

विमर्श के अंतर्गत आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के चिंतनपरक लेख—काय-सिद्धि से आत्मानुशासन, अनेकांत और नए समाज की रचना, भारतीय दर्शन : समन्वय का स्वर, स्वातंत्र्य विमर्श : सापेक्ष दृष्टि, प्रेक्षाध्यान और प्रचलित ध्यान विधियां, दमन नहीं—रेचन तथा विद्युत : सचित्त या अचित्त—ये सभी आलेख व्याख्यात्मक भी हैं और नव-दृष्टिपरक भी।

अनुभूति शीर्षक के अंतर्गत आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के आलेख—मर्यादा महोत्सव : अतीत-भविष्य का संगम, क्या हो प्रयत्न की दिशा, तेरापंथ : निष्कर्म और निष्काम की फलश्रुति आदि पठनीय और दिशाबोधक लेख हैं।

विमर्श के अंतर्गत ही अन्य विचारणीय आलेख भी द्रष्टव्य हैं—यशदेव शल्य (दर्शन और उन्मीलन), डॉ. राजानन्द (अध्यात्म का व्याकरण), श्यामाचरण दुबे (भारतीयता की तलाश), नन्दकिशोर आचार्य (वैज्ञानिकता का आतंक), प्रो. रामजीसिंह (अहिंसा की विसंगतियां), मुनि महेंद्रकुमार (उपवास : आवेगमुक्त शरीर का आधार), डॉ. पारसमणि खीचा (लेश्या : मनोवैज्ञानिक विवेचना), रजनीश शुक्ल (महावीर का चिंतन और वर्तमान परिस्थितियां), नन्दकिशोर आचार्य (अहिंसा की राजनीति और उससे आगे), साध्वी शुभ्रयशा (संहनन और धृति :

मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य), आचार्य विनोबा भावे (कर्मणा शुद्धि : चित्त शुद्धि), मनोज श्रीमाल (जैन-ज्योतिष एवं प्रश्नशास्त्र), पंकज (राज, समाज और हिंसा), साध्वी दर्शनविभा (हिंसा का स्रोत), डॉ. बी. पी. गौड़ (भाषा में हिंसा : एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण), शीन काफ़ निज़ाम (प्रौद्योगिकी : स्वतंत्रता और सत्य की खोज), डॉ. राधाकुमारी (गांधी का मानवीय अर्थशास्त्र), कृष्णदत्त पालीवाल (परंपरा में ही हैं नवजागरण की जड़ें), डॉ. एस. राधाकृष्णन् (आत्मा के स्वामी बनो), ज्योति. पाटणकर (अभिधेयं परम साम्यं), डॉ. छगन मोहता (मनुष्य : गरुत्मान नरपशु), साध्वी सरलयशा (अहिंसा : आगम के आलोक में), डॉ. बच्छराज दूगड़ (भाषा और हिंसा)—जैसे आलेख वैचारिक उत्तेजना पैदा करने वाले सिद्ध हुए हैं।

एक प्रकार से यह स्वर्ण जयंती वर्ष के अंकों की विमर्श-अनुक्रमणिका है। इन आलेखों के माध्यम से जहां जैन दर्शन की आधार-दृष्टि अहिंसा, आत्मानुशासन, सम्यक्-चेतना, समन्वयी-अभिरुचि की हम अनुशंसा पाते हैं, वहीं वर्तमान वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी विकास, अतिरेक में तार्किकता को मुख्यता देना, औद्योगिक एकांगिता का इफराती प्रसार, उपभोगवादी प्रवृत्ति और अंतरराष्ट्रीय शस्त्रीकरण की आतंकी मानसिकता में खो जाने वाले मनुष्य और मनुष्यत्व की तलाश भी पाते हैं, चेतना (अवेयरनेस) की दृष्टि तथा अंतःचेतना का विश्लेषण भी पाते हैं। विकास की जो आज की पार्थिव दृष्टि है, उसके बरक्स अंतःविकास की आध्यात्मिकता-नैतिकतापरक वैश्विक मानवता की खोज की विकलता भी पाते हैं और गांधी के इकाई-व्यक्ति के व्यक्तित्व की आंतरिक ऊर्जा की उद्‌बुद्धता भी।

अनुभव और अनुभूति में वैसा ही फर्क है जैसा कोरे तार्किक बुद्धिवाद और तर्कना-सम्मत विवेक में, जैसे बाह्य परिवेश की चेतना तथा आत्म-चेतना में। प्रथम पक्ष उर्वरक सामग्री है तो दूसरा पक्ष वह रस व शक्ति है जो रचनात्मकता की फलदा है। यही सृजन करती है, यही मनुष्य को सतत श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम बनाती है। लेकिन ये पृथक नहीं हैं, परस्पर आश्रित हैं।

अनुभूति वर्ग में प्रस्तुत आलेख—आचार्यश्री तुलसी (मिथुनविरति ब्रह्मचर्यम्), दयालचन्द्र सोनी (तीर्थ का अर्थ), डॉ. बच्छराज दूगड़ (लोकतंत्र : स्वतंत्रता और गरिमा), आचार्यश्री महाप्रज्ञ (मर्यादा महोत्सव : अतीत-भविष्य का संगम), आचार्यश्री तुलसी (तेरापंथ : आत्माभिमुखता का केंद्र), साध्वी कनकश्री (समत्व योग की चिन्मय मूरत), रामनरेश सोनी (तब पानी भला क्या करे), चतरसिंह मेहता (आनंद : भीतर के स्वरूप की पहचान), समणी हिमप्रज्ञा (मनस्वी व्यक्तित्व—सागर-सी गहराई : पर्वत-सी ऊंचाई), मुनि रमेशकुमार (परिवार : पर्यावरण संरक्षण की प्रथम इकाई), आचार्यश्री महाप्रज्ञ (तेरापंथ : निष्कर्म और निष्काम की फलश्रुति), आचार्यश्री तुलसी (न्याय मारग चालणो : चारित्र चोखो पालणो), सुरेश जैन (अहिंसा : श्रेष्ठ जीवन-मूल्य), समणी मंगलप्रज्ञा (वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि), रमेशचन्द्र शाह (भक्तिकाव्य की प्रासंगिकता), काका कालेलकर (लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु), स्वामी प्रभुदानन्द (अहिंसा : आध्यात्मिक स्वरूप), साध्वी विमलप्रज्ञा (स्वस्थ समाज का आधार : अहिंसक जीवनशैली), आचार्यश्री महाप्रज्ञ (क्या हो प्रयत्न की दिशा), डॉ. जिनेन्द्र जैन (प्रश्नाकुल सत्यान्वेषी), आचार्यश्री तुलसी (क्या हों हमारे आदर्श), मुनि बुद्धमल्ल (घटनाओं की अप्रतिम आभा), साध्वी योगक्षेमप्रभा (शिक्षा का समाधायक रूप), प्रो. एस. के. पारख (संदेश काव्य परंपरा एवं जैन कवि), मुनि जयन्तकुमार (विकास अभिक्रम के सेतु-पथ), साध्वी श्रुतयशा (साधना अमृतसिद्धि योग की), समणी मंगलप्रज्ञा (तुलसी पोशाल का वैशिष्ट्य), समणी कुसुमप्रज्ञा (धर्मक्रांति के स्वर काव्यधारा में), मुनि मदनकुमार (अर्थ में ओझल विवेक), डॉ. जिनेन्द्र जैन (भक्ति : जैन धर्म और कबीर)।

जैन भारती का केंद्रक है आध्यात्मिकता। यह आध्यात्मिकता निश्चित रूप से आदर्शोन्मुखी है। लेकिन यह आदर्श चारित्रिक शुद्धता एवं आत्मानुशासन को रेखांकित करता है। अहिंसा समता, मैत्रीभाव, करुणा, संयम आदि रचनाप्रधान मनोवृत्तियों के विकास तथा प्रयोग की अपेक्षा रखती हैं। व्यक्ति का आत्मिक विकास उसको शांति प्रदान करता है। बाधक स्थितियां समाज में भी हैं और वर्तमान वैश्विक वातावरण में भी हैं। मनुष्य में अगर घटाव तथा ह्रास आया है तो एकात्मभाव अर्थात् समभाव की अनुभूति में। हिंसात्मक युद्धों तथा औद्योगिक प्रसार की स्वार्थपरता ने जैसे सारे चिंतन पर राख डाल दी है।

ऐसी स्थिति में साहित्य के सामने भी चुनौती है कि वह कैसे व्यक्ति तथा किस वातावरण की अभीप्सा प्रेषित करता है। यथार्थ को यथार्थ की तरह संप्रेषित करना किसी विशिष्ट चेतना को जागृत नहीं कर सकता, क्योंकि आम आदमी खुद उसका भोक्ता है। इसलिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो आत्म-मंथन को प्रेरित करे। वह परिवेश का ही बोध न कराए, उस बोध को भी जागृत करे जिसके

कारण मानवीयता-विरोधी, मानव-द्रोही वातावरण बना हुआ है और इसी की बढ़ोतरी की संभावना है।

जब ध्वंसात्मक शक्तियां जोम पर हों, तब उसी सघनता से रचनात्मक शक्ति का प्रेषण आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है, इस विश्वास को रखते हुए कि परिवर्तन अवश्यंभावी सत्य है—प्रकृति का, व्यवस्थाओं का।

मैं पुनः सराहना करना चाहूंगा संपादक की, जो ऐसी कहानियों तथा कविताओं को खोज-खोज कर **जैन भारती** में प्रस्तुत कर रहा है, जो 'अंतःमंथन' को संप्रेषित करती हैं। कहानियां—अज्ञेय (अलिखित कहानी), जैनेन्द्रकुमार (क्रांति-कर्म), रमेशचन्द्र शाह (मोर्निंग विज्डम), जेन कथा (एक हाथ की ताली), प्रेमचंद (प्रेरणा), रवीन्द्रनाथ ठाकुर (छुट्टी), राजेश जोशी (मैं हवा पानी परिंदा कुछ नहीं...), शिवप्रसाद सिंह (कर्ज), शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय (प्रकाश और छाया)।

कविताएं—ओक्ताविओ पाज, अशोक वाजपेयी, संजीव मिश्र, भाई वीरसिंह, कुंवरनारायण, प्रयाग शुक्ल, नन्दकिशोर आचार्य, भवानीप्रसाद मिश्र, तुलसी रमण। कविताओं में से कुछ नमूने—

बढ़ते ही गए हम, विशाल हैं
जान एक-दूसरे को,
साथ मुंदी आंखों को

(ओक्ताविओ पाज/अनुवाद)

❑

इतना-सा वरदान तो दिया होता
कि बिना लज्जित अनुभव किए
प्रार्थना में अपना सिर झुका नहीं
ऊपर उठा सकता।

(अशोक वाजपेयी)

❑

मुंदती आंखें और अंदर ही अंदर
स्व है स्व की ओर उन्मुख
मेरे सांईयां का जो देश
प्रवेश पाता जा रहा हम में।

(भाई वीरसिंह)

❑

जो था सोच में
वह नहीं रहा
पूरा का पूरा
शब्द में।
पर रहे शब्द—
पता देते
उस सोच का।

(प्रयाग शुक्ल)

❑

मुक्ति की तलाश में
खोजती है आत्मा
एक घर
ताकि उसको छोड़कर
वह मुक्त हो जाए।
घर उसकी स्मृति में
खंडहर ही रहता है सदा

(नन्दकिशोर आचार्य)

❑

एक मन है अकेलापन
जिसे समझा जा सकता है
आर-पार जाया जा सकता है जिसके
दिन में सौ बार

(भवानीप्रसाद मिश्र)

❑

उसने देह को सुंदर देखा
वाणी को मधुर
स्पर्श को सुखकर
और श्वांस को
सुगंधित
उसने चित्त को
मलिन पाया।

(तुलसी रमण)

तेरापंथ धर्मसंघ तथा **जैन भारती** की एक दृष्टि से और सराहना की जानी चाहिए कि ये मुनि तथा साध्वी कूपमंडूक अध्ययन से स्वतंत्र विशद अध्ययन के अभ्यासी हैं। अध्ययन ही नहीं, ये वर्तमान की समस्याओं और इनके बहाव के प्रति चेतना-संपन्न हैं तथा धर्म एवं आध्यात्मिकता के कोण से चिंतनशील होकर बहुआयामी लेखन भी कर रहे हैं। 'शीलन' के अंतर्गत 'जैन भारती' में प्रकाशित होने वाले लेख-आलेख इसके साक्ष्य हैं। तप, चिंतन और सृजनात्मक त्रिवेणी का यह संगम इनके व्यक्तित्व को निखारता है तथा मुक्तता में मौलिक विचारों को भी विकसित करता है।

'शीलन' शीर्षक में प्रकाशित लेख-आलेख जिज्ञासा को तृप्त भी करते हैं और जगाते भी हैं। आलेख हैं—मुनि विनोदकुमार 'विवेक' (वंदणएणं नीया गोयं कम्मं खवेई), साध्वी श्रुतयशा (नेतृत्व क्षमता के सूत्र), मुनि राजेन्द्रकुमार (महानता का दर्शन), साध्वी जयमाला (हिंसा : कौन है उत्तरदाई), हरेंद्र सी. रावल—प्रतीक्षा एच. रावल (आकाश एक : सूरज तीन-तीन), भवानी सोलंकी (जरूरत है अध्यात्म के अंकुश की), विद्यानिवास मिश्र (भारतीय सनातन मूल्य), मुनि प्रशान्तकुमार (कैसे सोचें! कब सोचें!! कितना सोचें!!!), समणी सत्यप्रज्ञा (भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता), मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण' (अहिंसा : सम्यक् संतुलन का सेतु), साध्वी अणिमाश्री (अनासक्त चेतना का निर्माण), मुनि किशनलाल (स्वस्थ समाज संरचना के संकल्प), साध्वी कान्तयशा (मत बोलो अणगमती वाणी), साध्वी मुदितयशा (हिंसा : कारण—निवारण), यशपाल जैन (धर्म की नींव : जीवन की इमारत), राजेन्द्र अवस्थी (ईमान का दीपक), समणी सत्यप्रज्ञा (विवेक दृष्टि : जीवन की पहेली का हल), मुनि प्रशांतकुमार (भीतर हैं शक्ति के अक्षय स्रोत)।

इन मुख्य विभागों के अतिरिक्त संपादक द्वारा **जैन भारती** में आरंभ और बीच में जगह-जगह चिंतनपरक विचारों को लघु रूप में प्रस्तुत करना तथा बाल कथाएं देना हर अंक के सौष्ठव में अभिवृद्धि ही नहीं करते हैं, रुचिकर विचारों से परिचय भी कराते हैं।

अब एक नजर स्वर्ण जयंती वर्ष के अवसर पर **अनेकांत विशेष** (सम्मिलित अंक 3-4-5, मार्च-मई, 2002) पर। इस विशेषांक का जिक्र न करना महत्त्वपूर्ण श्रमसाध्य कार्य को नजरअंदाज करना हो जाएगा। 'प्रसंग' के अंतर्गत संपादक शुभू पटवा इस बिंदु से संपादकीय शुरू करते हैं कि—'अब यह माना जाने लगा है कि निरंतर बढ़ रही विश्व की विकट समस्याओं का समाधान अध्यात्म में ही निहित है।' वह आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कथन देते हैं—'अध्यात्म और नैतिकता दोनों एक ही शृंखला की दो कड़ियां हैं। अध्यात्म-चेतना जगाने पर कोई भी व्यक्ति अनैतिक नहीं हो सकता। नैतिक व्यक्ति ही अध्यात्म की दिशा में अग्रसर हो सकता है।'

लेकिन संपादक इस ओर भी ध्यान आकर्षित करना नहीं भूलते कि—'धर्म के नाम पर तथाकथित आग्रह-दुराग्रह और उसी के चलते होने वाले टकरावों ने जितना धर्म का अहित किया है, उससे कहीं अधिक धार्मिक संकीर्णता से मनुष्यता आहत हुई है।'

अनेकांत का व्यावहारिक पक्ष है—'आग्रहों-दुराग्रहों से मुक्त होकर, मत-मतांतरों के बीच उभरने वाले टकरावों का शमन कर समन्वय और सामंजस्य के साथ भिन्न विचारों का सम्मान करना।'....अनेकांत पर विशेषांक इसीलिए।'

अनेकांत विशेष की चर्चा करने का अधिकारी व्यक्ति-मैं नहीं हो सकता। इसमें सहभागी विद्वान अपने क्षेत्र में चिंतन-निष्णात हैं तथा अनुभवसिद्ध साधक भी हैं। विशेषांक के आलेखों से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि जहां जैन दर्शन की अनेकांत, स्याद्वाद तथा नय की तात्त्विक चर्चा (स्थापना और खंडन सहित) की गई है, वहीं इसके व्यावहारिक महत्त्व पर भी विशेषांक में तरह-तरह से चर्चा की जाकर समसामयिक समस्याओं का समाधानिक स्वरूप भी प्रस्तुत हुआ है। लोकतांत्रिक व्यवस्था और जीवन-शैली की वैश्विक श्रेष्ठता की स्वीकृति **अनेकांत अवधारणा** को और भी महत्त्वपूर्ण बनाती है।

आज की पूर्वाग्रही, हिंसक और अहंकारी अंतरराष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और चिंतनात्मक मानसिकता का समाधान **अनेकांत** को अपनाने से ही संभव है।

क्योंकि सम्यक् दर्शन का अर्थ है—अनेकांतवाद। मिथ्या दर्शन का अर्थ है—एकांतवाद।

'एक पर्याय—एक विचार को समग्र मान लेना, निरपेक्ष मान लेना एकांतवादी दृष्टिकोण है। एक विचार को अपूर्ण और सापेक्ष मान लेना अनेकांतवादी दृष्टिकोण है।'

(आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

'हमें यह जानना चाहिए कि मूल रूप में भारतीय दर्शन तर्काश्रित नहीं, बल्कि अनुभवाश्रित है और इस रूप में वह धर्म का मूल है।' **(प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद)**

अंत में भारतीय दर्शन के समन्वयवादी दृष्टिकोण के साक्ष्य में आचार्य नरेंद्रदेव का कथन—'ब्राह्मण परंपरा और श्रमण परंपरा भारतीय लोक-जीवन में ऐसी घुलमिल गई कि एक ने दूसरी को कहां और कितना प्रभावित किया, आज इसका निश्चय करना कठिन है।'

वस्तुतः दर्शन और धर्म ने जितना भी विकास पाया है वह शाश्वत मूल्यों और कालगत परिवर्तनों की नैतिक अनिवार्यताओं की अनुभूति के माध्यम से पाया है। इसलिए यह समझने और अपनाने की आवश्यकता है कि तात्त्विक सत्य सतत भी होते हैं और व्यावहारिक जीवन के लिए उनमें रूपांतरण की संभावना भी निहित रहती है। आप्त अटलता के साथ आपात-धर्म की गुंजाइश भी रहती है, लेकिन यह सुविधापरक छूट नहीं है। ❖

अनुभूति

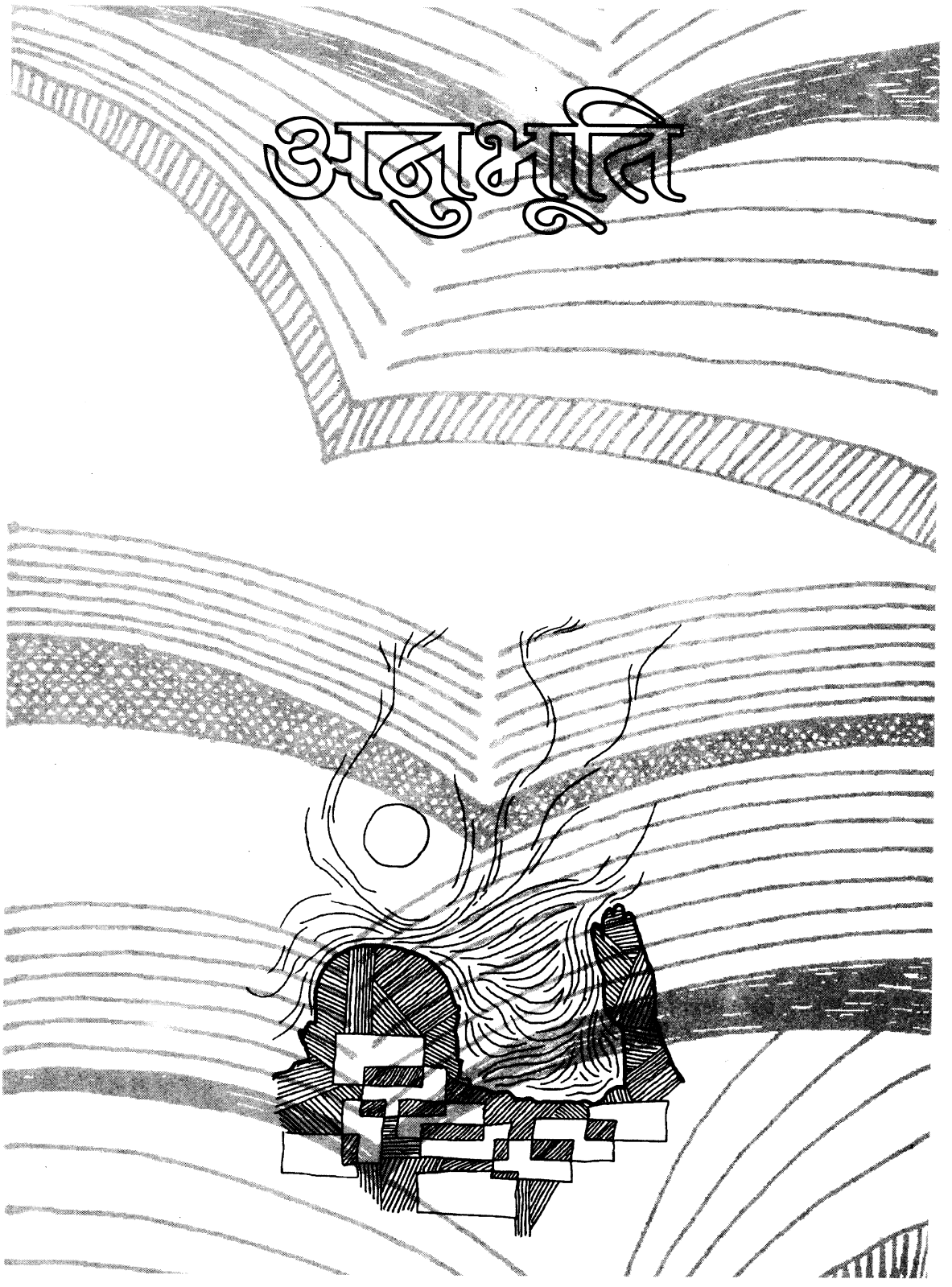

हम भारतीय—जिन्होंने आत्मा की स्थिति-स्थापकता और माया की गत्यात्मकता का इकट्ठा साक्षात्कार किया और एक ओर ध्यान-प्रेरित दृष्टि द्वारा और दूसरी ओर प्रकृति की उर्वरता के माध्यम से अपनी सरस्वती की साधना की—हम लोग भी अपने विकास-क्रम में, अपने इतिहास में कई संकटों और उथलपुथलों से गुजरे हैं। मगर हर ऐसे संकट के दौर में हमारी कल्पना-शक्ति ने हमें उबारने का उद्यम बराबर किया है। वही कल्पना-शक्ति आज संभवतः स्वयं सबसे ज्यादा संकटग्रस्त है। ऐसे-ऐसे वक्तों में भी जब हमारी राजनीतिक और धार्मिक दुरवस्था पराकाष्ठा पर थी और हमारे बौद्धिक-आध्यात्मिक-राजनीतिक नेतृत्व का दिवालिया पिट चुका था, ऐसी संकट की घड़ियों में भी हमारे कवियों और कथाकारों ने हमारी जातीय जिजीविषा को भीतर से सहारा देकर खड़ा रखा है। इतना जरूर था कि तब हमारे आक्रांताओं और शासकों ने हमारी आर्थिक जीवन-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न नहीं किया था। किसानों की भाषा हमारी रचनात्मक कल्पना की संवाहक बखूबी बन सकी। बुनियादी तौर पर यही संयोग था—बचे-खुचे बौद्धिक आभिजात्य के साथ इस व्यापक लोकचित्त का जुड़ाव, जिसने हमारी कवि-कल्पना और कलात्मक आकांक्षाओं को नया जीवन प्रदान किया : ऑडेन ने कहीं लिखा है कि 'कविता अपमान और दलन में से जन्म लेती है'। स्वभावतः उस दौर में सृजनात्मक कल्पना की भूमिका रूपांतरकारी न होकर संरक्षणात्मक ही हो सकती है।

—रमेशचंद्र शाह

'कला समय समाज' से

वाणी की अधिष्ठात्री : सरस्वती

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा

❑

वस्तुतः सरस्वती का विकासक्रम कुछ भी रहा हो—वह वाणी की अधिष्ठात्री के रूप में ही भारतीय मनीषा को मान्य रही। सरस्वती की श्रीपंचमी वाक् की आराधना का पर्व है 'धियो योनः प्रचोदयात्' का। शक्ति के रूप में भी उसकी अवधारणा का यही क्रम रहा। अभिनव गुप्त के अनुसार 'तव च का किन्न न स्तुतिरम्बिके। सकल शब्दमयी किल ते तनुः, निखिल मूर्ति मे भवदन्वयो मनसिजासु बहिः प्रसरासु च'। श्री दुर्गाष्टोत्तरनाम स्तोत्रम् में ऋषि कहते हैं 'सर्व मंत्रमयी सता सत्यानंदस्वरूपिणी'। इसी प्रकार कुंजिका स्तोत्र में भी 'मंत्र-रूपिणी' कहा गया है। श्री ललितापंचकम् में उसे 'वाग्देवतेति वचसा त्रिपुरेश्वरीति' कहकर स्तुति की है। उसे 'नाद ब्रह्ममयी' कहा गया है। 'या कुन्देन्दु तुषारहार धवला, या शुभ्र वस्त्रावृता, या वीणा वरदंड मंडितकरा या श्वेत पद्मासना' तो अत्यंत लोकप्रिय है।

भारतीय संस्कृति में वेदों से लेकर अद्यावधि सरस्वती तत्त्व विशिष्ट और अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। इसके बहुआयामी स्वरूप और संदर्भ ने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक गांभीर्य दिया है। सर्वप्रथम हम सरस्वती के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ और उसकी विभिन्न परिभाषाओं पर विचार करें। यास्क ने 'तत्र सरस्वतीत्ये तस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति' (2.23)। निरुक्त के अनुसार इसका अर्थ 'उदक' व 'वाक्' है। सृ धातु का अर्थ 'गति' है। निघंटु ने इसे वाणी के नामों में गिना है। पाणिनि ने इसकी सिद्धि इस प्रकार की है : 'सृगतौ इत्यस्मात् औणाद्धि को प्रत्यक्षः स्रियते गम्यते येन तत्सरः ज्ञानम् सरोऽस्वा अस्तीति सरस+मतुप'। एक विद्वान ने इसे यों समझाया है—सर्+अस=सरस्वत्-ई, सरस=सरस्वती, सरस+मतुप=सरस्वती+सु, सरस+मत=सरस्वती (पद)। इस प्रकार सरस्वती सरस+वती का संयुक्त रूप है। अमरसिंह के अनुसार 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाण वाणी सरस्वती/व्यवहार उक्तिकर्त्तपितं भाषितं वचन वचः'। शब्दचंद्रिका में इसे सोमलता कहा गया है। देवीपुराण में इसका नाम दुर्गा भी है। यथा :

स्वरः स्वरण शील त्वात गेयाख्या स प्रकीर्तिता।
अति प्रापण दान व तेन देवी सरस्वती॥

और 'शब्द कल्पद्रुम' में 'उच्च चार पुरस्तस्य गूढ़ रूप सरस्वती'। इसे 'देवानां माता...अमृतस्य नाभि' भी कहा जाता है। प्रायः कोशकारों ने सरस्वती का संबंध बुद्धि की देवी से किया है। अभिधान राजेंद्र सरस्वती को बुद्धि की देवी मानता है। मेदिनी के अनुसार 'गोः नदी भेदः मनु पत्नी।' राजनिघंटु इसे 'ज्योतिष्मती' और ब्राह्मी कहता है। नाम लिंगानुशासन में ब्राह्मी से तात्पर्य 'ब्राह्मण इयं ब्राह्मी' कहा गया है, न कि ब्राह्मी का अर्थ ब्रह्मा की पत्नी है। वस्तुतः ब्रह्मा की पत्नी के अर्थ में सरस्वती का कम वर्णन हुआ है। यों सरस्वती का एक अर्थ धेनु भी है। ऋग्वेद में वाक् का जो रूप निदर्शित है, वहां उसकी तुलना कामधेनु से की गई है 'तेऽमन्वत प्रथमं नाम धेनु।' (14.1.16) इसी प्रकार वह देवताओं की रानी भी है। वह वायु के समान प्रवाहित होती है। विश्व का निर्माण करती है एवं पृथ्वी तथा स्वर्ग से परे है। महाभारत शल्य पर्व में ब्रह्म-पत्नी सरस्वती (वाक्) की उत्पत्ति का वर्णन है। सात प्रकार का ज्ञान देने के कारण ही उसे सरस्वती कहा गया। वैदिकोत्तर काल में उसे

सावित्री व सरस्वान की अर्द्धांगिनी होने के कारण भी 'सरस्वती' कहा गया।

ऋग्वेद में (10.75.5) तथा अन्य मंत्रों में सरस्वती का नदी रूप में ही उल्लेख है। 'सरस' का अर्थ गति होने से वृहत् जलाशय भी गिना जाता है। भारतीय अध्यात्म-चिंतन में जल को अमृत भी कहा गया है। वैदिक धारणा के अनुसार जल को 'ऋत' भी कहा जाता है। सरस्वती नदी संभवतः इसी अमृतकुंड अथवा ब्रह्मकुंड से निःसृत है। सायणाचार्य ने भी सरस्वती के रूप माने हैं 'द्विविधा हि सरस्वती विग्रह वद्देवता नदी रूपाय' (1.3.92) श्री अनिर्वाण का मत है कि ऋग्वेद में सरस्वती नदी और देवता दोनों रूपों में वर्णित है। 'आधिभौतिक दृष्टि से जलधारा, अध्यात्म की दृष्टि से प्राणधारा और आधिदैविक दृष्टि से विश्व-जननी चित्शक्ति का प्रवाह है।' ऋग्वेद में तीनों भाव विद्यमान हैं। पुनः अनिर्वाण ने लिखा है कि एक स्थान पर ऋषि कहते हैं, 'हे सरस्वती! तुम्हारे सदृश माता नहीं, देवी नहीं। तुम उज्ज्वल हो, आनंदमयी।' ऋग्वेद का प्रसिद्ध सरस्वती सूक्त (2।41।16-17) इस प्रकार है—

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वती।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि
त्वे विश्वा सरस्वति श्रियायूंषि देव्याम्
शुन होत्रेसु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढिनः।

इस प्रकार मातृमूर्ति में नदी का सौंदर्य ढंक जाता है। वह परमा है, ब्रह्मांड की विचित्र चेतना से परिपूर्ण, परम प्राप्ति का अभिमुख। सारे व्यवधान को समाप्त कर वह हमारे अभिमुख होती है 'प्रियास प्रिया'। एक स्थान पर गंगे, जमुने, सरस्वती—तीनों का उल्लेख है। सरस्वती के कूल पर ही आर्य संस्कृति का विस्तार हुआ था। ऋषि वहीं यज्ञादि किया करते थे। इसी कारण उसमें अध्यात्म भाव भी आ गया। दूसरी ओर वह वाक् है। नदीतमा होने से ही उसमें प्राण रूप की भी कल्पना की गई। इसकी घोरा, वज्रघातिनी हिरण्यमय आवर्त रचना देवनिन्दकों को निर्मूल करती है। सरस्वती सप्तमी है। सिंधु उसकी माता है। वह वज्र-कन्या है—'वज्र बाहू इन्द्र सरस्वती वान्'। वह कल्याणी है, चित्त की एकाग्रता का परिणाम। उसमें प्राण और प्रज्ञा का समाहार है। वही सावित्री शक्ति है। मेधा, प्रज्ञा, प्रमा, विद्या, धी, धृति, स्मृति, बुद्धि और ऐश्वर्य इसके पीठ देवता हैं।

श्री अरविंद के अनुसार सरस्वती स्पष्ट ही वाणी की देवी है—'एक दिव्य अन्तःप्रेरणा। वैदिक ऋषि गाथात्मक प्रतीकों की रचना करने में समर्थ थे। इसके साथ ही वह सप्त नदियों में एक है...सरस्वती का संबंध केवल नदियों से ही नहीं वरन् देवियों के साथ भी है, वे देवियां स्पष्ट तौर से आध्यात्मिक प्रतीक हैं—विशेषतः भारती और इला के साथ।' यों भारती भी उसका एक नाम है। ऋग्वेद के मंत्र में ये तीनों आती हैं, यथा—

आ नो यज्ञं भारती, तूयमेतु इला मनुष्वदिहचेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥
(10.110.8)

तीनों देवियों को सुखमय आसन पर बैठने का आह्वान है। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है जल का एक नाम ऋत है और उसी से सत्य चेतना आती है। ऋग्वेद (1.8.8) में इसी चेतना का उल्लेख है। वह वृहत् सत्ता के सत्य से परिपूर्ण है—सत्य, ज्ञान तथा क्रिया से युक्त। 'ऋतम् वृहत्'। इला भी सत्य की ही वाणी है। इला धरती की देवी है, सरस्वती अंतरिक्ष की। भारती का एक नाम मही भी है। भारत में सात का बड़ा महत्त्व है—सप्त सिंधु, सप्त आनंद, सप्त ज्वाला, सप्त रत्नानि, सप्त किरणें, सप्त धेनु, सप्त धीतयः।

श्री अरविंद ने इसी को अपने निबंध 'समुद्रों और नदियों का रूपक' में व्याख्यायित किया है। मधुच्छंदस के तीसरे सूक्त की तीन ऋचाएं हैं, जिनमें सरस्वती का आह्वान किया गया है 'महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति। (ऋग्वेद 1।3।12) श्री अरविंद के अनुसार 'सत्य हमारे हृदय में एक वाणी के रूप में आता है और हमारे मिथ्यातत्व को नष्ट करता है।' 'सरस्वती अन्तःप्रेरणा प्रकाशमय समृद्धताओं से भरपूर है, (वाजेभिर्वाजिनीवती) विचार की संपत्ति से ऐश्वर्यवती है (धियावसुः)।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविंद और श्री अनिर्वाण के मत में ऋग्वेद में सरस्वती नदी है और वाणी की देवी भी। वाल्मीकि और कालिदास ने उसके दोनों रूपों को स्वीकारा है। उसका मरुद्गण के साथ संपर्क है। उसका एक नाम 'वीर पत्नी' है—मरुद्गण वीर है और सरस्वती उसकी पत्नी। इसके साथ ही वह 'विश्व माता' है—राका/त्वष्टा पिता है। वह पूर्णिमा की देवी है—'वृहत् ज्योतिः स्वरूपिणी' एवं 'सप्तधामे सप्तधा विराजिता'। पार्थिव भूमि को, विपुल एवं अंतरिक्ष को आपूरित करती है। महाभारत के आदि पर्व, सभा पर्व, कर्ण पर्व, शल्य पर्व, शांति पर्व और स्वर्गारोहण पर्व में सरस्वती नदी का विभिन्नरूपेण वर्णन

मिलता है। ऐसा भी उल्लेख है कि इसके तट पर ही व्यास ने तप करके शुक को पुत्र रूप में प्राप्त किया था। सरस्वती के तट पर ही दधीचि ने घोर तपस्या की और इंद्र ने इसे भेजकर स्खलित किया। पाश्चात्य विद्वानों का यह भ्रम निराधार रहा कि सरस्वती का नदी रूप में होना केवल एक मिथकीय कल्पना है। मेक्रिन्डल की यही धारणा रही, पर ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाणों से सरस्वती का नदी होना स्वतःसिद्ध है। बाण ने 'हर्ष चरित में लिखा है कि सम्राट प्रभाकरवर्धन की अन्त्येष्टि इसके तट पर हुई थी। चीनी यात्री ह्वेनचांग ने भी इसके होने का उल्लेख किया है। कल्हण की राजतरंगिणी में लिखा है कि शारदा तीर्थ के साथ मधुमती और सरस्वती मिल जाती थीं। मनु के अनुसार 'सरस्वती व दृषद्वती देव नदियां हैं। दोनों का मध्यवर्ती भाग ब्रह्मावर्त कहलाता है। इस देश का आचार ही सदाचार है।' देश भेद से इसके सात नाम हो गए। जिन स्थानों पर वह तिरोहित हुई उसे 'विनसन' कहते हैं। विद्वान ऐसा मानते हैं कि मध्य एशिया से प्रवाहित होकर यह अफगानिस्तान से आई थी। कौसांबी का यही मत है। वह कुरुक्षेत्र में लुप्त हुई, फिर राजस्थान में अर्बुदगिरि में प्रकट और तत्पश्चात् प्रयाग क्षेत्र में मिली।

बौद्ध और जैन धर्म में भी सरस्वती का देवी रूप मान्य रहा है। जैन धर्म में वह श्रुत देवी है, जो समवशरण में अध्यक्षता करती है। बालचंद्र सूरि को इसी ने कवित्व-शक्ति दी थी। वे 'सारस्वताचार्य' कहलाए। जैन धर्म में सरस्वती की सोलह विद्या व्यूहों की भी कल्पना की गई है। वे हैं रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्र शृंखला, कुलिशां कुशा, चक्रेश्वरी, नरदत्तम, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, सर्वास्त्रमहाज्वाला, मानवी, वैरोच्चया, अच्युता, मानसी और महामानसिका। बौद्ध धर्म में (वज्रयान) वह मंजुश्री की प्रेयसी बनी। बौद्धों ने इसके पांच प्रकार गिने हैं, महासरस्वती, वज्रवीणा सरस्वती, वज्रशारदा, आर्य सरस्वती, वज्र सरस्वती। इनके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हैं। जैन व बौद्ध परंपरा में इसका वाहन मयूर है।

सरस्वती माध्यमिका वाक् है और पृथ्वी की नदी, पर तत्त्वतः प्राणवायु का स्रोत। माध्यमिका वाक् अर्थात् अंतरिक्ष का शब्द। इसके दो रूप हैं—गर्जन और नाद। गर्जन का संबंध 'मरुत' से है। सरस्वती वज्र कन्या हैं 'वज्र बाहु इंद्र सरस्वतीवान्।' मानव प्राण की आकृति वाक् में है। वही मंत्र है—'चित्त की एकाग्रता का परिणाम।' वाक् सूक्त में वह सर्वदेवमयी है—'धी' का प्रचोदन ही इसकी विशिष्टता है। उसका ध्यान, चिति और प्रचेतना से नित्य योग है। अथर्ववेद में उसका विराज के साथ तादात्म्य किया गया है वहां वह काम की दुहिता है। इसमें तीन सरस्वती का उल्लेख है।

अब हम ब्राह्मणों और पुराणों में सरस्वती के विवरण पर विचार करें। अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि सरस्वती का वाक् देवी का रूप परवर्ती काल का है, वैदिक नहीं। शतपथ ब्राह्मण में 'वाक् सरस्वती'। (7.5.1.51) का उल्लेख मिलता है। यहां मन को समुद्र कहा गया है। इसी प्रकार कौषीतकि ब्राह्मण में उसे 'वाग्वै सरस्वती' (5.2.12) कहा गया है, इसके अतिरिक्त 'सरस्वती हि गौ' एवं 'जिह्वा सरस्वती' आदि के भी उल्लेख मिलते हैं। गोपथ में 'अमावस्या वै सरस्वती' भी कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे वाच ही माना गया है। वाच का महत्त्व बताना ही ऋषि का प्रयोजन है। ऐतरेय ब्राह्मण में सरस्वती के किनारे ऋषियों द्वारा किए गए यज्ञों का उल्लेख है। गोपथ ब्राह्मण में भी मन की कल्पना विधाता के रूप में की गई है। वहां कहा गया है कि मन, जो चिंतन करता है, वही वाणी के रूप में प्रस्फुटित होता है। 'यद्धि मनसाभिगच्छति तद् वाचा ददाति'। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वह इंद्र की भार्या है और तीनों लोक उसमें विद्यमान हैं। इसी प्रकार वाजसनेय संहिता में उसका अश्विनों की पत्नी होने का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक कथा है कि वाच अपने ही कारण नारी रूप बन गया। गंधर्वों के सोमरस चुरा लेने पर नारी बनकर ही उसने उसे पुनः प्राप्त किया। संक्षेप में पुराणों में भी सरस्वती का प्रचुर वर्णन उपलब्ध है, ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मांडपुराण, वायुपुराण, देवीपुराण, विष्णु धर्मोत्तरपुराण, श्रीमद्भागवत आदि। ब्रह्मांडपुराण (अध्याय 43) में सरस्वती की कथा इस प्रकार है। ब्रह्मा सृष्टि-रचना के लिए तत्पर थे तब उनका मनस सत्त्वगुण से भर गया और सरस्वती का जन्म हुआ। सरस्वती की जिज्ञासा पर ब्रह्मा ने उसे प्रत्येक व्यक्ति, विशेष रूप से विद्वानों की जिह्वा पर रहने का आदेश दिया। उसके साथ ही उसे पृथ्वी पर नदी रूप में भी भेजा। तृतीय रूप से ब्रह्मा ने उसे अपने में रखा। ब्रह्मा और सरस्वती के संबंध पर विचार करें। मत्स्यपुराण में ब्रह्माणी व सावित्री के साथ वह परम प्रकृति रूपा है और इसकी सहायता से ही ब्रह्मा सृष्टि करते हैं।

सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परन्तप।
ततः स्वदेह संभूतामात्मजामित्य कल्पयत्॥ (3-32)

देवी भागवतपुराण के अनुसार सरस्वती शापवश वैकुंठ से पृथ्वी पर आई थी। एक बार अपने पति विष्णु से उसने दुर्वचन कहे और गंगा से भी असूयावश लड़ पड़ी।

क्रोध में आकर इसने लक्ष्मी को शाप दिया, जिस पर गंगा ने प्रतिशाप देकर इसे पृथ्वी पर नदी बना दिया। इसी पुराण में सरस्वती के लिए लिखा है—'स्वराः स्वरण शीलत्वात् गेयाख्या सप्रकीर्तिताः। अति प्रायणदान वतेन देवी सरस्वती'।। इस पुराण में पांच देवियां ही सृष्टि की विधायिका हैं और उनमें सरस्वती है। वहां श्रीनारायण कहते हैं—

सुगन्धं शुक्ल पुष्पं च सुगन्धम् शुक्ल चन्दनम्।
नवीन शुक्ल वस्त्रं च सुन्दर ' मुने
माल्यं च शुक्लं पुष्पाणां शुक्ल हार च भूषणम्
यादृशं च श्रुतो ध्यानं प्रशस्य श्रुति सुन्दरम्
तन्निबोध महाभाग भ्रम भंजन कारणम्।
सरस्वती शुक्लवर्णा सस्मितां सुमनोहराम्॥
(1-27-28)

दंडी ने इसी कारण उसे 'सर्व शुक्ला' कहा। इसे सप्त ज्ञान युक्त कहा जाता है। इसी पुराण के अनुसार अनंत शक्ति ने ब्रह्मा को सरस्वती प्रदान की। पद्मपुराण में भार्गव और हैहय के बीच युद्ध में बाडवाग्नि समस्त विश्व को भस्म करने वाली थी, तब देवताओं के अनुरोध पर इसने अग्नि को समुद्र में डाला और स्वयं नदी बन कर प्रवाहित हुई। सृष्टि खंड में इस कथा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इसमें यह भी कहा गया है कि इंद्र ने इससे बाडवाग्नि को समुद्र में डालने को कहा था। इसमें उसके पलाश वृक्ष के कंधों पर जाने का उल्लेख है। ऐसी भी कथा है कि वह पुष्कर तीर्थ में भी गई और वहां से पश्चिम दिशा की ओर अग्रसर होकर नंदा बनी। नंदा के नाम के संबंध में प्रभंजन राजा की कथा भी आती है। ऋग्वेद में (3-23-4) सरस्वती और दृषद्वती नदियों के तट पर अग्नि प्रज्वलित करने का संकेत है। 'दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि।' विद्वानों का यह भी विचार है कि सरस्वती कुरुक्षेत्र में थी और दृषद्वती राजपूताने में। पर भू-वेत्ताओं ने सरस्वती का मरु प्रदेश में ही लुप्त होना स्वीकारा है। ब्रह्मपुराण में सरस्वती को 'वाग्देवी व शुद्ध सत्त्वरूपा' कहा गया है। 'श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम इसकी पूजा की और उनके आदेश पर इसने पुनः नारायण की पूजा की।' सरस्वती की पूजा की तिथि माघ शुक्ल पंचमी निर्धारित की गई। देवी भागवत में भी प्रायः यही कथा है। इस पुराण में भी गंगा के शाप की कथा का उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (4-37-59) में वह ईश्वर की पांच शक्तियों में एक है। मन को ब्रह्मा और वाणी को सरस्वती माना गया है। ज्ञान रूप शंकर बुद्धि से अभिभूत मन का उद्धार करते हैं, 'मनःस्वरूपो ब्रह्मा ज्ञान रूपो महेश्वरः वागधिष्ठातृ देवी या सा स्वयं हि सरस्वती' (ब्रह्म खंड-अध्याय 3)। इसमें कृष्ण के मुख से एक अत्यंत सुंदरी षोडशी के जन्म का उल्लेख है। वीणा और पुस्तक-धारिणी यह अत्यंत सुंदरी थी। उसने कृष्ण के समक्ष वीणा वादन करते हुए नृत्य किया—

वागऽधिष्ठात्री या देवी शास्त्रांज्ञान प्रदा सदो सदा।
कृष्ण कण्ठोद्भवा या च सा च देवी सरस्वती॥

श्रीकृष्ण ही सरस्वती के प्रथम साधक थे। बुद्धि धी, मेधा, प्रतिभा, स्मृति उससे ही प्राप्त होती है। वह सिद्धिदात्री है और संगीत की अधिष्ठात्री। विष्णु धर्मोत्तर पुराण (सरस्वती सर्वस्व खंड) में उसका स्वरूप वर्णन इस प्रकार है—

तत्र ब्राह्मी चतुर्वक्त्रा षड्भुजा हंसवाहना।
पिंगाभा भूषणोपेतामृग चर्मोत्तरीयका॥

वायुपुराण में सरस्वती और दधीचि के पुत्र का समस्त विद्याओं में पारंगत होना लिखा है और वह सारस्वत ऋषि है।

उपनिषदों में वाक् का वर्णन प्रचुरता से उपलब्ध है। वृहदारण्यक श्रुति में वाणी को 'धेनु' माना गया है। वाणी का स्वामी 'प्राण' है। श्रुति कहती है 'वाणी का ज्ञानरूपी दूध मन के गो-वत्स की प्रेरणा से उतरता है।' (5-9-1) ऐतरेय उपनिषद् में वाणी और मन की एकता का प्रतिपादन 'वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनोमे वाचि प्रतिष्ठितम्' कहकर किया गया है। इसके अतिरिक्त 'सरस्वती हृदयोपनिषद्' सरस्वती का प्रमुख उपनिषद् है। यह उपनिषद् आश्वलायन ऋषि कृत है। इस उपनिषद् की दशश्लोकी अत्यंत गूढ़ और प्रमुख है। इसका दशम श्लोक है:

नाम रूपात्मकं सर्व यस्यामावेश्यतां धुनः।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती॥

इसमें इसका बीज शब्द 'ऐं' बताया गया। यह उपनिषद् ऋग्वेदीय है और इसके अनेक मंत्र प्रभावी माने गए हैं। मधुच्छंदा का 'श्री' 'पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः' इसी प्रकार 'महो अर्णः सरस्वती'। इस उपनिषद् में भी कहा गया है कि हिम, मुक्ताहार, कपूर और चंद्रमा की आभा के सदृश शुभ्र कांतिवाली कल्याणप्रद सुवर्ण सदृश, चंपक पुष्पों की माला से विभूषित मनोहर अगों वाली वाणी, अर्थात् सरस्वती देवी को मैं अष्टविध ऐश्वर्य और निःश्रेयस के लिए मन और वाणी से नमस्कार करता हूं। ब्रह्म तत्त्व ही उनका स्वरूप है। 'प्रचेतयति केतुना धियो विश्वा वि राजति।'

अब हम दुर्गा सप्तशती, तंत्र एवं योग शास्त्र में वर्णित सरस्वती पर संक्षेप में विचार करें। सप्तशती में उत्तर चरित्र सरस्वती का है और इसने ही शुंभनिशुंभ का वध किया। ध्यान में इसे तीनों लोकों की आधारभूता व शरद ऋतु के शोभासंपन्न चंद्रमा की मनोहर कांतियुक्त महासरस्वती कहा गया है। प्रसिद्ध स्तोत्र 'नमस्तस्यै नमस्तयस्यै नमस्तस्यै नमो नमः' इसको ही संबोधित है। 'प्राधानिकं रहस्यम्' में महासरस्वती के द्वारा विष्णु, कृष्ण, वासुदेव, जनार्दन आदि की एवं उमा, गौरी, चंडी, सती, सुभगाशिवा आदि की उत्पत्ति बताकर इसे ब्रह्मा के लिए पत्नीरूप में अर्पित कर ब्रह्मांड की रचना का उल्लेख है। कुछ आचार्यों के मन में उत्तर चरित्र के कारण महाकाली, महालक्ष्मी से महासरस्वती ही मुख्य हैं। तंत्रागमों में सरस्वती की पूजा-मंत्रादि का विवरण प्राप्त होता है। तंत्रसार के अनुसार 'वद्वद् वागवादिनि वह्निवल्लभा' इसका दशाक्षर मंत्र है। मेधा, प्रज्ञा, प्रमा, विद्या, धी, धृति, स्मृति, बुद्धि और ऐश्वर्य इसके पीठ देवता हैं। इस ग्रंथ में पारिजात सरस्वती का भी उल्लेख है। वहां इसे ही तारा कहा गया है। देवी भागवत की भांति सरस्वती-तंत्र में भी इसके मंत्र, तंत्र, यंत्र उपलब्ध हैं। श्रीपंचमी के व्रत को ही सरस्वती व्रत कहते हैं। यह संगीत की अधिष्ठात्री देवी है, इसलिए इसका नाम 'स्वरात्मिका' भी है। इसका ध्यान इस प्रकार है—

शुभ्रां स्वच्छ विलेय माल्य वसनां शीताशुं खण्डोज्वलां।
व्याख्यामक्षगुणं सुधा घ कलसं विद्याञ्च हस्ताम्बुजै॥
विभ्राणां कमलासनां कुचलतां वाग् देवता सम्मितां।
वन्दे वाग् विभव प्रदां त्रिनयनां सौभाग्य सम्पदकरी॥

योगशास्त्र में भी सरस्वती का वर्णन उपलब्ध होता है। आचार्यों की मान्यता है कि इड़ा और पिंगला के मध्य सुषुम्ना ही सरस्वती है। सहस्रार में गंगा (इड़ा), यमुना (पिंगला) का संगम होता है। बालचंद्र सूरि ने 'वसन्त विलास' ग्रंथ में ज्योतिरूपा सरस्वती का दर्शन करने तथा सुषुम्ना में सरस्वती प्रवाह की चर्चा की है। कुंडलिनी को ही वाग्देवी कहा गया है।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरंती प्रभया स्वया।
अहिवत् सन्धि संस्थाना वाग्देवी बीज संज्ञका॥

सुषुम्ना (सरस्वती) से ही ब्रह्मानंद प्राप्त होता है। हठयोग की साधना में सहस्रार के इस संगम को ही अमरत्व की साधना कहा है। डॉ. जयशंकर त्रिपाठी के अनुसार इसी अमरत्व की साधना के समानांतर प्रयाग में तीन नदियों की कल्पना को साकार किया गया। कुंडलिनी पाताल लोक समझी गई और वहीं से सरस्वती आकर सहस्रार तक पहुंची। वही तीर्थराज है। सरस्वती की यह लुप्त धारा लाल है पर यह लाल वर्ण मूल सरस्वती के शुभ्र वर्ण से संबंध नहीं रखता। इस लाल वर्ण का संबंध हठयोग की साधना से है। कवि पृथ्वीधर ने भुवनेश्वरी देवी की स्तुति में उसका 'हुताशन रूप' कहा है और उसका बीज मंत्र 'ह्रीं' बताया है।

मातर्देहभृतामहो धृतिमयी नादैकरेखामयी।
सा त्वं प्राणमयी हुताशनमयी बिन्दु प्रतिष्ठामयी॥

यह सारस्वत अधिष्ठात्री का रूप वर्णन है। विद्युत रेखा के समान शक्ति की कला सूर्य, चंद्र और अग्नि—तीनों हैं। पुनः डॉ. जयशंकर त्रिपाठी के शब्दों में 'पृथ्वीधर की ह्रींकार लता' अथवा शंकराचार्य की 'सौंदर्य लहरी' में निरूपित शक्ति की अग्निमयी तडित्कला की उपासना ही हठयोग के साधकों को इष्ट है। शंकराचार्य की सौंदर्य लहरी में तीन तीर्थों के संगम का वर्णन योग की मान्यताओं पर आधृत है। शंकराचार्य ने इसे 'नदः शोणो' कहा है (सौंदर्य लहरी)।

सरस्वती का संबंध ब्रह्मा से है। उसे एक ओर ब्रह्मा की 'मानस पुत्री' कहा है और दूसरी ओर पत्नी भी। भारतीय वांग्मय में दोनों के पारस्परिक संबंध का अनेक ग्रंथों में वर्णन किया गया है। इस संबंध में अथर्ववेद का कथन है—'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (9-10-12)। शतपथ ब्राह्मण कहता है—'प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ (1-7-4-1)। यही कथा ऐतरेय ब्राह्मण में आती है। जिसमें ब्रह्मा हरिण रूप में व्यभिचार करते हैं। ऐतरेय में कन्या को द्यौ और ऊषा कहा गया है। भविष्यपुराण (4-अ. 19) में 'स्वकीयां च सुता कन्यां।' वस्तुतः यह एक रहस्यमय प्रतीक है। वसंत में जब दिवा-रात्रि समान होते हैं, तब बलि वर्ष का प्रारंभ माना जाता है। इसके पश्चात् ही दिवस-रात्रि का घटना-बढ़ना प्रारंभ होता है! ब्रह्मवैवर्तपुराण में ब्रह्मा को मन और सरस्वती को वाणी कहा गया है। 'मनः स्वरूपो ब्रह्मा मे ज्ञान रूपी महेश्वरः। वागधिष्ठातृ देवी या सा स्वयं हि सरस्वती'। (4-36)

गोपथ ब्राह्मण में मन को ही विधाता गिना गया है। मन में जो चिंतन करता है वही वाणी के रूप में प्रकट होता है, 'यद्धिमनसाभि गच्छति तद्वाचा ददाति'। शतपथ में मन ही प्रजापति है। इस प्रकार प्रजापति से तात्पर्य सूर्य से है और सरस्वती का ऊषा से—सूर्य ही ऊषा का जनक है।

ब्रह्मपुराण (अध्याय 10) में ब्रह्मा और सरस्वती की भिन्न कथा आती है। एक बार भ्रमण करते समय सरस्वती का संबंध पुरुरवा से हो गया, तब ब्रह्मा के शाप से वह नदी

हो गई और तत्पश्चात् शापमोचन से पवित्र। पुरुरवा सूर्य है। एक अन्य मान्यता के अनुसार ब्रह्मा (ज्ञान रूप) सरस्वती (वाक्) का आश्रय लेकर सृष्टि करता है। इस प्रकार ब्रह्मा को सूर्य और सरस्वती को ऊषा—डॉ. रमेशचंद्र दत्त, मैक्समूलर आदि अनेक विद्वान मानते हैं। त्रेतायुग के प्रारंभ में यह वाल्मीकि की कवित्व शक्ति के रूप में अवतरित हुई। करुणार्द्र महर्षि का शोक ही श्लोक बना। कुंभकर्ण को वर देते समय देवों ने सरस्वती का आह्वान किया और देवानुकूल वर मांगने को कहा (7.1.41)। महाभारत के 'प्लक्ष जाता सरस्वती' के अनुसार सरस्वती हिमालय की तलहटी के प्लक्ष वनों से होकर धरित्री पर आती है। एक अन्य प्रसंग में कहा गया है की अच्युत ने सरस्वती की सृष्टि की और मनस से वेदों की। वायुपुराण के अनुसार महाभारत में सरस्वती व दधीचि के पुत्र का सब विधाओं में पारंगत होने का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य के सम्मुख यह मातृका रूप में अवतीर्ण हुई।

अब हम सरस्वती के वाहन 'हंस' पर विचार करें। हंस ब्रह्मा का वाहन है और सरस्वती का भी। देवताओं की पत्नियों के वाहन भिन्न-भिन्न हैं—लक्ष्मी का उल्लूक, पार्वती का सिंह आदि। ब्रह्मा और सरस्वती का ही एक वाहन क्यों रखा गया? हंस का व्युत्पत्तिक अर्थ है 'वह प्राणी, जिसकी गति सुंदर हो (ह्वन्ति=सुन्दरं गच्छति) एवं जो अनायास जल पर संतरण करता हो—मानसरोवर के निर्मल जल में' (महाभारत 3.230.7)। रामायण आदिकांड सर्ग 24 में यही कहा गया है। हंस की एक अन्य परिभाषा है 'शुचिश्रवा ह्रषीकेशोधृताच्चिर्हंस उच्यते', अर्थात् जो स्पष्ट सुनने वाला और सुंदर आकृति का हो। आज विज्ञान भी हंस की ध्वनि-ग्राहक शक्ति (फोनो रिसेप्शन) को स्वीकार करता है। ब्रह्मा निर्मल ज्ञान के प्रतीक हैं। मनुष्यों में वही हंस हो सकता है, जिसमें नीर-क्षीर न्याय का विवेक हो। जो वपु विद्या, वाणी, वेश और आंतरिक वैभव से संपन्न हो—ज्ञानवान। ऐसे मनुष्य पर ही सरस्वती आरूढ़ अर्थात् जिह्वा पर रहती है और वही ब्रह्मा के सदृश विशुद्ध ज्ञान-संपन्न है।

उपर्युक्त व्याख्या के अतिरिक्त हंस की और भी व्याख्या उपलब्ध होती है, जिसका संबंध योगशास्त्र से है। 'हंस' का अर्थ स्वाभाविक प्राण क्रिया है। हंस प्राणीमात्र में प्राणन व्यापार का स्वाभाविक शब्द और बीज मंत्र है। गंभीर रात्रि में जागकर स्थिर होकर बैठने से हमारे श्वास-प्रश्वास का शब्द हंस सदृश होता है। यही साधक के दिव्य कर्म में विशुद्ध ध्वनि है। प्रणव का आविः रूप आकाश है और प्राण रूप प्रकाश हंस है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मा और सरस्वती के वाहन हंस का प्रतीक और आध्यात्मिक महत्त्व है और वहां वह मात्र पक्षी न होकर प्रणव अथवा परा शब्द का प्रतीक बन जाता है, जिसका वाक्-साधना में महत्त्व स्वतः प्रमाणित है। इस पर हम अन्य रूप से भी विचार कर सकते हैं। जप विज्ञान के अनुसार हंसारूढ़ होने से अहं एवं सः—ये दोनों रूप हंसतत्त्व में रूपायित हैं। हंस अजपा-जाप का भी दूसरा नाम है। वस्तुतः हंस प्राण अथवा आत्मा है—इसका एक अर्थ जीव भी होता है। हंस ही वाणी का वहन करता है। इस प्रकार हंस का वाहनरूप पूर्ण सार्थक है।

सरस्वती और लक्ष्मी का पारस्परिक संबंध भी महत्त्वपूर्ण है। ऊपर शाप का प्रसंग आया है। लक्ष्मी और सरस्वती का वैमनस्य सर्वविदित है। इसका तात्पर्य यह है कि वैभवसंपन्न व्यक्ति, अर्थाधिक्य के कारण वाणी की साधना से वंचित रह जाता है। भारतीय वांग्मय में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, जहां महान कवि व कलाकार वाणीसिद्ध तो होते थे, पर रहते थे विपन्न। इनके उदाहरण अनपेक्षित हैं। हम यहां दोनों का तात्त्विक संबंध देखें। डॉ. सुबीरा जायसवाल ने श्री और सरस्वती और विदेशी विद्वान गौंडा ने लक्ष्मी के सांस्कृतिक व पौराणिक विकास पर गंभीरता से विचार किया है। डॉ. सुबीरा जायसवाल का मत है कि श्री एवं लक्ष्मी मूलतः दो भिन्न देवियां थीं, जो ब्राह्मणों एवं प्रारंभिक उपनिषदों में मिल गईं। वैदिक वाजसनेयी संहिता में दोनों के भेदक व्यक्तियों की ओर स्पष्ट संकेत है। तैत्तिरीय आरण्यक में पुरुष की ये दो पत्नियां हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में दोनों दिव्य मातृकाएं हैं। कुछ विद्वान 'श्री' का मूल आर्यकाल से पूर्व मानते हैं। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के उत्सव भी भिन्न ऋतुओं में ही आते हैं। जहां लक्ष्मी का उत्सव शरद ऋतु में होता है, वहां वसंत ऋतु में 'श्रीपंचमी' मनाई जाती है। विष्णु धर्मोत्तरपुराण में 'श्रीलक्ष्मी' की प्रतिमा का उल्लेख है। लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्र मंथन से हुई, श्री की उत्पत्ति की पुराकथाओं का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। सरस्वती का मुख्य उत्सव श्रीपंचमी है, जिसे वसंत पंचमी भी कहा जाता है। क्षीर स्वामी के अनुसार 'वसन्तऽस्मिन् सुखम्' इस वसंत ऋतु में ही प्राणी सर्वाधिक सुख प्राप्त करते हैं। प्रकृति का अंग-प्रत्यंग खिल उठता है। मलय पवन बहता है, आम्र मंजरियां फूलती हैं—सुरभि और संगीत से वातावरण भर जाता है। कालिदास ने इसी में 'सर्व प्रिये चारुतरं वसन्ते' कहा है। भविष्योत्तरपुराण में कहा गया है—

माघमासे सितपक्षे पञ्चमीय प्रियःप्रिय।
वस्याःपूर्वाह्न स्वेह कार्य सारस्वत्योत्सव॥

वसंत का संबंध कामदेव से है। यही समय मदनोत्सव का पर्व है। भारतीय कवियों ने श्रीपंचमी और मदनोत्सव का प्रचुर वर्णन किया है। कुछ उल्लेख पर्याप्त होंगे। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने मदनोत्सव और श्रीपंचमी (जिसे सुवसंतक भी कहते हैं) को एक मान लिया पर वस्तुतः ये दोनों भिन्न उत्सव थे। भोजदेव ने सुवसंतक को वसंत के आगमन का उत्सव गिना है और मदनोत्सव को होलिका पर्व। मदनोत्सव का वर्णन कालिदास ने अनेक स्थलों पर किया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'वे वसंतोत्सव का बहाना ढूंढ़ते रहते-से लगते हैं—ऋतुसंहार, मेघदूत (यक्षप्रिया के आघात से अशोक का खिलना और बकुल की चर्चा), मालविकाग्नि मित्र, हर्षदेव कृत रत्नावली में मदनोत्सव का वर्णन उपलब्ध है'। श्रीपंचमी वसंत के साथ-साथ सरस्वती की पूजा-आराधना का पर्व है। बंगाल व अन्य प्रदेशों में इस दिन सरस्वती की पूजा सार्वजनिक रूप से मनाई जाती है। ज्योतिष के अनुसार इस दिन धरती मध्यरेखा सूर्य के पास पहुंच जाती है और वह सूर्य से पुनः मिलने को आतुर रहती है क्योंकि वैज्ञानिकों के अनुसार आदि-अनादि काल में वह उसी का एक अंग थी।

सभी कवियों ने किसी-न-किसी रूप में सरस्वती का ध्यान किया है। कालिदास ने उसे सरस्वती 'श्रुति महती महीताम्' कहा है और मल्लिनाथ ने 'तद्वित्यम्व व्ययमं धाम सारस्वतमुपासहे।' अमरसिंह ने 'ब्राह्मी तु भारतीय भाषा-गीर्वाण वाणी सरस्वती' माना। इसी प्रकार उसे अन्यत्र 'सरस्वती नः सुभगामयस्करत्' कहा गया है। वह सबके मुख में निवास करती है 'सरणं सरः प्रसरणं मुखेऽस्त्यस्या इति सरस्वती'। यही तेजोमयी वाक् और शब्दब्रह्म भी। राजशेखर ने हृदि नः सन्नि धत्तां या सूक्ति धेनु सरस्वती' कहा है। मम्मट ने इसे 'नवरस रूचिरां निर्मित मादधती भारती कवेर्जयति' माना। तुलसीदास ने 'वंदे वाणी विनायकौ' कहकर श्री रामचरितमानस प्रारंभ किया है।

वस्तुतः सरस्वती का विकासक्रम कुछ भी रहा हो—वह वाणी की अधिष्ठात्री के रूप में ही भारतीय मनीषा को मान्य रही। सरस्वती की श्रीपंचमी वाक् की आराधना का पर्व है 'धियो योनः प्रचोदयात्' का। शक्ति के रूप में भी उसकी अवधारणा का यही क्रम रहा। अभिनव गुप्त के अनुसार 'तव च का किन्न न स्तुतिरम्बिके। सकल शब्दमयी किल ते तनुः, निखिल मूर्ति मे भवदन्वयो मनसिजासु बहिः प्रसरासु च'। श्री दुर्गाष्टोत्तरनाम स्तोत्रम् में ऋषि कहते हैं 'सर्व मंत्रमयी सता सत्यानंदस्वरूपिणी'। इसी प्रकार कुंजिका स्तोत्र में भी 'मंत्र-रूपिणी' कहा गया है। श्री ललितापंचकम् में उसे 'वाग्देवतेति वचसा त्रिपुरेश्वीरेति' कहकर स्तुति की है। उसे 'नाद ब्रह्ममयी' कहा गया है। 'या कुन्देन्दु तुषारहार धवला, या शुभ्र वस्त्रावृता, या वीणा वरदंड मंडितकरा या श्वेत पद्मासना' तो अत्यंत लोकप्रिय है। प्रणाम मंत्र में कहा गया है—

वेद-वेदांग-वेदांत विश्यास्थानेभ्य एव च

× × ×

सरस्वती महाभागे विद्ये कमल लोचने।
विद्या रूपे विशालाक्षि विद्यां देहि मनोस्तुते॥

उसके स्तोत्रों में ब्रह्मा स्तोत्र, वृहस्पति स्तोत्र, याज्ञवल्क्य स्तोत्र आदि मुख्य हैं। सरस्वती का दशाक्षर ध्यान मंत्र है 'ॐ वद वद वाग् वादिति वह्नि वल्लभा' एवं 'ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं ॐ सरस्वत्यै नमः'। यह पारिजात सरस्वती का बीज मंत्र है। एक और ध्यान मंत्र है 'वागप्रदां त्रिनयनां सौभाग्य-सम्पतकरी।' एक अन्य ध्यान श्लोक प्रसिद्ध है—

शुक्लां ब्रह्म विचार सार परमामाद्यां जगद्व्यापिनी।
वीणा पुस्तक धारिणीम् भयदां जाड्यान्धकारापहाम्॥

इसमें जड़ता को नष्ट कर बुद्धि प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। दुर्गा सप्तशती में इसका ध्यान इस प्रकार वर्णित है—

ॐ घण्टा शूल हलानि शङ्ख मुसलेचक्रंधनुः सायकं।
हस्ताब्जैर्दधती घनान्तविलसच्छीतां शुतुल्य प्रभाम्।
गौरी देह समुद्भवां त्रिजगतामाधारभूतां महा—
पूर्वांमत्र सरस्वती मनु भजे शुम्भादिदैत्यार्दिनीम।

(पञ्चमोध्याय)

वाग्देवी होने के कारण भारतीय कला में भी सरस्वती लोकमान्य रही। भारत के विभिन्न स्थानों पर शारदा की अनुपम प्रतिमाएं प्राप्त हैं। इन प्रतिमाओं का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है। छठी सदी की नालंदा प्रतिमा में वीणा के साथ वेणु और ताल वाद्य है। प्रभामुकुट के साथ किरीट है। आवानेर (10वीं शताब्दी) की मूर्ति में कच्छपी वीणा है, दक्षिण के बेलूर मंदिर में किन्नरी वीणा। ये विभिन्न वीणाएं संगीत से संबंध सूचित करती हैं। बेलूर की एक अन्य मूर्ति 6 हाथ वाली है जिसमें आलापनी वीणा और डमरू हैं। सोमनाथपुर के केशव मंदिर में एक तंत्री वीणा है—इस वीणा का संबंध शरद ऋतु की अमावस्या से है, सरस्वती का श्रीपंचमी से।

विद्या की अधिष्ठात्री के रूप में इसकी प्रतिमा होइसलेश्वर में है। रामेश्वर में वह रुद्रवीणा बजा रही है।

राजस्थान बीकानेर की 10वीं सदी की मूर्ति में कमंडल, अंकुश हैं। काशी के अन्नपूर्णा मंदिर में वीणावादन करती हुई दिखाई गई है। भागलपुर में नील सरस्वती की प्रतिमा है। मध्यप्रदेश की मेहर पहाड़ी पर स्थित सरस्वती आल्हा के साथ-साथ उस्ताद अलाउद्दीन खां की देवी थी। खजुराहो में अनेक प्रतिमाएं उपलब्ध हैं, जिनमें गजानन की पत्नीरूप में वीणा के साथ उत्कीर्ण हुई है तो विश्वरूप विष्णु के साथ भी इसकी एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमा उज्जैन के महाकाल के श्मशान में है, जिसके दर्शनार्थ राजा भोज जाया करते थे। लंदन के प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में आज भी यह प्रतिमा विद्यमान है।

उज्जयिन्यां महाकाल श्मशानं प्राप्तसुक्रमात्।
गत्वा सरस्वती पूजामादायागच्छदारिके।।

(कथा सरित्सागर—2-3-39)

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मूर्तिकला में सरस्वती वागेश्वरी (भारती) के रूप में ही चित्रित हुई है। एक आगम के अनुसार कैलास पर्वत पर वह एक सभा में वीणावादन करती है, ब्रह्मा करताल, सूर्य-चंद्र डमरू, नारद गान, नंदी एवं कुमार ढोल बजाते हैं। उपर्युक्त उल्लिखित प्रतिमाओं में कहीं ये द्विभुजाकार हैं, कहीं चतुर्भज। एच. कृष्णाशास्त्री ने अपने ग्रंथ 'साउथ इंडियन इमेजेज' में इसका विशद वर्णन किया है। वागेश्वरी के रूप में वह तंत्र और बौद्ध—दोनों अनुयायियों की आराध्या थीं। इसी के दो और रूप धेनु वागेश्वरी और सौभाग्य वागेश्वरी हैं। ये प्रायः शैव प्रतीक हैं। ये देवियां त्रिनेत्री हैं और मुकुटधारी भी। शारदारूप में सरस्वती की शृंगेरी मठ और काश्मीर में अब भी पूजा होती है। मुस्लिम शासक जेनउल अबीदीन ने काश्मीर के मंदिर को नष्ट कर दिया था (1420-70 ईस्वी)। अबुलफजल ने इसे चौसठ कलाओं की अधिष्ठात्री कहा है। अलबरूनी और विल्हण ने भी काश्मीर के सरस्वती मंदिरों का उल्लेख किया है, जिनके कारण उस प्रांत को शारदापीठ कहते थे। बौद्ध धर्म में वागेश्वरी की पूजा की प्रतिमा त्रिनेत्री है और हाथ में एक ग्रंथ, रुद्राक्ष एवं कमंडल हैं। प्रो. बी. भट्टाचार्य ने अपने ग्रंथ 'दि इंडियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी' में बौद्ध प्रतिमाओं का विश्लेषण किया है। जैन धर्म में भी इसकी प्रतिमाएं विभिन्न रूपों में प्राप्त होती हैं (द्रष्टव्य : जैन मूर्तिकला, भारतीय ज्ञानपीठ)।

भारत में ही नहीं, विदेशों में भी सरस्वती देवी के रूप में विख्यात और मान्य थी—तिब्बत में उसे वज्र शारदा, चीन में जांगुली और पीत तारा तथा जापान में वेन्तेन के नाम थे। सुमात्रा, जावा और कंबोडिया में उसकी पूजा का प्रचार था। प्राचीन ग्रीक पुराकथाओं में वह सायूस की पुत्री 'म्यूज' कला की अधिष्ठात्री थी और उसकी सर्वत्र पूजा होती थी। वह काव्य और विज्ञान की भी देवी थी। भारत के अनुसार उसके पर्व और उत्सव होते थे। अपोलो ही उनका नेता था। मिथकीय साहित्य में उसके तीन अथवा नौ रूप मान्य थे। होमर ने अपने ग्रंथ में इसका विशद वर्णन किया है। इसके अनेक मंदिर भी वहां विद्यमान थे। स्पार्टा में युद्ध के पूर्व उसको बलि दिए जाने का भी उल्लेख है। वहां भी वह वीणा को ही धारण किए हुए प्रतिमाओं में दिखाई गई है। इस संबंध में श्री अरविंद के विचार भी ध्यातव्य हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार इंद्र ने पर्वत पर प्रहार किया उसी प्रकार हिप्पोक्रेन नदी अश्वधारा की भी कहानी है कि यह दिव्य घोड़े पैगसस के खुर से निकली थी, क्योंकि उसने अपने खुर से चट्टान पर प्रहार किया था और उसमें से अंतः प्रेरणा के जल वहां बह निकले (वेद रहस्य-पूर्वार्द्ध)। श्री अरविंद आगे कहते हैं कि यह मौलिक संबंध क्या उस इंद्र के साथ तो नहीं था, जो वेद में 'वल' का घातक है।

इस प्रकार 'सरस्वती' भारतीय मनीषा और संस्कृति की एक अनुपम देवी है, जो वैदिक काल से अद्यावधि जनमानस में सदैव पूजनीय रही है। वाणी की अधिष्ठात्री होने के कारण, वह कलावंतों की एकमात्र आराध्या है। नदी के रूप में आज भी भूगर्भशास्त्री इस अंतःसलिला की खोज राजस्थान में कर रहे हैं। शक्ति के रूप में वह शुंभ-निशुंभ के वध के कारण नवरात्र में पूजी जाती है। 'श्री' होने के कारण वह जीवन के समस्त श्रेयस् की उपास्या है। ❖

कोई असत्य से सत्य को नहीं पा सकता। सत्य को पाने के लिए हमेशा सत्य का आचरण करना ही होगा। अहिंसा और सत्य की तो जोड़ी है न? हरगिज़ नहीं। सत्य में अहिंसा छिपी हुई है और अहिंसा में सत्य। इसीलिए मैंने कहा है कि सत्य और अहिंसा एक ही सिक्के के दो रुख हैं। दोनों की कीमत एक ही है। केवल पढ़ने में ही फर्क है; एक तरफ अहिंसा है, दूसरी तरफ सत्य। पूरी-पूरी पवित्रता के बिना अहिंसा और सत्य निभ ही नहीं सकते। शरीर या मन की अपवित्रता को छिपाने से असत्य और हिंसा ही पैदा होगी।

—महात्मा गांधी

अध्यात्म का चरमोत्कर्ष : रहस्य भावना का सहज संवाहक

कंचन शर्मा

सामान्यतः संसार का प्रत्येक श्रेष्ठ कवि किसी-न-किसी अंश में रहस्यवादी होता ही है। क्योंकि मानव-मन की अंतर्निहित भावनाएं कवि के द्वारा अभिव्यक्ति पाती हैं। अमेरिकन प्रो. प्रॉट का कथन उचित है—'प्रत्येक कवि कम-से-कम रहस्यवाद का स्पर्श तो करता ही है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का रचना-संसार विपुल और बहुआयामी है। जीवन का तत्त्व, यथार्थता और परमात्मा से एकाकारिता उनके जीवन व रचना-संसार का धरातल है। अध्यात्म उनके चिंतन का क्षितिज है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को विभिन्न भाषाओं व विधाओं के माध्यम से अवतरित किया है। उनका रचना-संसार रहस्यवाद के आलोक से उद्भासित है, मानवीय मूल्यों से संप्रेषित और समलंकृत है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अलौकिक प्रज्ञा के शलाका-पुरुष हैं। बीसवीं सदी के प्रमुख रहस्यवादी विचारकों में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने वैचारिक जगत् में कई नए अवदान दिए हैं, जिनसे न केवल बौद्धिक जगत उपकृत हुआ अपितु जनसामान्य भी लाभान्वित हुआ है। वे विलक्षण प्रतिभा के धनी हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जीवन, चिंतन और सृजन रहस्यवादी विचारों के आवरण में घिरा हुआ है। जीवन व साहित्य में विद्यमान रहस्यभावना के वर्णन से पूर्व यह जान लेना उचित है कि 'रहस्यवाद' क्या है?

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'रहस्यवाद' को परिभाषित करते हुए लिखा है—'ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है।' इस प्रकार रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूतिपूर्वक 'आत्मतत्त्व' से 'परम-तत्त्व' में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं—अध्यात्म की चरमोत्कर्ष अवस्था की भावाभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। उनके साहित्य में विद्यमान रहस्य भावना में—भावनात्मक रहस्यवाद, आध्यात्मिक रहस्यवाद, दार्शनिक रहस्यवाद, धर्म और साधनात्मक रहस्यवाद, यौगिक रहस्यवाद, अभिव्यक्ति-मूलक रहस्यवाद, इतिवृत्तात्मक रहस्यवाद और सूफियों से प्रभावित रहस्यवाद के कई रूप छुपे हुए हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा रचित गद्य-पद्य रचनाओं में रहस्यवादी अनुभूति की छटा चारों ओर बिखरी हुई है। ऐसी रहस्यवादी अनुभूति में 'तू' और 'मैं' का भेद नहीं रह जाता—

कौन कहता है—अरे, ईश्वर मिलेगा साधना से।
मैं स्वयं वह, वह स्वयं मैं, भावमय आराधना से।।
वह नहीं मुझसे विलग है, नहीं मैं विलग उससे।
एक स्वर है, एक लय है, त्वं अहं का भेद किससे।।

(फूल और अंगारे, पृ. 433)

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवन के रहस्य को दो प्रश्नों में प्रस्तुत किया है—'मैं कौन हूं?' और 'मैं कहां हूं?' इन दो प्रश्नों में जीवन का सारा रहस्य छिपा हुआ है। 'मैं कौन हूं,' का रहस्य वीतराग या सर्वज्ञ ही जान सकते हैं, किंतु 'मैं कहां हूं' और 'क्यों हूं' इसका बोध प्रत्येक मनुष्य कर सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी से सामान्यतया लोग प्रश्न पूछते हैं, 'आप छोटी-सी अवस्था में मुनि क्यों बने?' मुनि ने उक्त प्रश्न का उत्तर गढ़े-गढ़ाए शब्दों में न देकर इस प्रकार कहा, 'मैं एक ही उत्तर देना पसंद करूंगा और वही उत्तर मैं देता रहा हूं कि कोई अज्ञात की प्रेरणा थी, ज्ञात जगत् में घटना घटी और मैं मुनि बन गया। हम अज्ञात को छोड़कर ज्ञात को समझने का प्रयत्न करते हैं, केवल उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहते हैं। वह सच होने पर भी अधूरा सच होता है, पूरा सच नहीं होता। मैं मुनि बनने और मुनि तुलसी की छत्रछाया में नई जीवन-यात्रा चलाने को एक अज्ञात की प्रेरणा मानता हूं। ज्ञात जगत में इसका समाधानकारक उत्तर मुझे उपलब्ध नहीं होगा।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के भीतर बैठे कवि, रहस्यवादी विचारक, दार्शनिक और साधक के बीच चलने वाले द्वंद्व का प्रतिबिंब इन पंक्तियों में मुखर हो रहा है—

साथी मौन रहूं या बोलूं, उलझ रही जीवन की डोरी
तोड़ फेंक दूं या फिर खोलूं, साथी मौन रहूं या बोलूं।

(फूल और अंगारे, पृ. 415)

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 'महावीर की साधना का रहस्य' पुस्तक में आत्मा का साक्षात्कार एवं समाधि के विषय में रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है। साधना का वर्णन करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा है—'जो अज्ञात है, वह सब रहस्य है। जो ज्ञात होने पर भी सार्वजनिक रूप से प्रकाशित न हो सके, वह भी रहस्य होता है। साधना दोनों अर्थों में रहस्य है।' इसी पुस्तक में जीवन, मृत्युलोक, परलोक का भी रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने द्वैतवादी होते हुए भी आत्मा व परमात्मा को एक माना है तथा संसार को नश्वर मानते हुए मोह, माया का खंडन किया है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं, 'आत्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है। वह किसी आकार में बंधी नहीं है। आत्मा का स्वरूप शब्दों के माध्यम से संभव है ही नहीं, यहां तर्क की गति नहीं है, अतः बुद्धि उसे पूर्ण रूप से समझ नहीं पाती है।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पांच इंद्रियां—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन आत्मा के महान शत्रु हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इन शत्रुओं से युद्ध करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं, 'हे प्राणी! अपनी आत्मा के दुर्गुणों के साथ ही युद्ध कर। दूसरों से युद्ध करने से क्या प्रयोजन! दुष्ट आत्मा के साथ युद्ध करने योग्य सामग्री बार-बार प्राप्त नहीं होती। जो व्यक्ति दुर्जय संग्राम में सहस्र-सहस्र शत्रुओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो केवल अपनी आत्मा को जीतता है—उसकी विजय श्रेष्ठ है, उसका परमात्मा से एकाकार अवश्यंभावी है।'

अतः मुक्त आत्मा बाधारहित, अतींद्रिय, अनुपम और पुण्य-पाप से निर्युक्त है। आवागमन से रहित, नित्य, अचल, अनालंबन है।

'श्वासदर्शन' से 'शुद्ध चैतन्य' के दर्शन का रहस्यात्मक पथ स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'श्वास का स्पर्श किए बिना, श्वास को देखे बिना शरीर को ठीक तरह से नहीं समझ सकते, नहीं देख सकते। मन को देखे बिना आभामंडल को नहीं देख सकते और प्राण को देखे बिना उस चैतन्य तक नहीं पहुंच सकते, जहां हमें पहुंचना है। यह पूरा का पूरा यात्रा पथ है।'

(किसने कहा मन चंचल है, पृ. 8)

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी सूफियाना अंदाज में रहस्यवाद को साथ लेकर चले हैं, किंतु अंत में उनका रहस्यवाद भी पीछे छूट जाता है और रह जाता है केवल शुद्ध प्रेम अर्थात् परमात्मा से एकाकार।

प्यार करो तो हार मान लूं,
मधु मिश्रित मुस्कान भरो तो,
कांटों को उपहार मान लूं।
निश्छल मन से विष भी दो तो
उसे सुधा की धार मान लूं
हृत्-तंत्रि का तार हिले तो,
स्वप्नों को आकार मिले तो
भग्न हृदय के रूखे स्वर को,
वीणा की झंकार मान लूं।

(फूल और अंगारे, पृ. 421)

सामान्यतः संसार का प्रत्येक श्रेष्ठ कवि किसी-न-किसी अंश में रहस्यवादी होता ही है। क्योंकि मानव-मन की अंतर्निहित भावनाएं कवि के द्वारा अभिव्यक्ति पाती हैं। अमेरिकन प्रो. प्रॉट का कथन उचित है—'प्रत्येक कवि कम-से-कम रहस्यवाद का स्पर्श तो करता ही है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का रचना-संसार विपुल और बहुआयामी है। जीवन का तत्त्व, यथार्थता और परमात्मा से एकाकारिता उनके जीवन व रचना-संसार का धरातल है। अध्यात्म

शेष पृष्ठ 45 पर

मेरं शरणं गच्छामि

मुनि संबोधकुमार 'कौलकता'

❑

वर्तमान जनमानस कुछ निषेधात्मक अवधारणाओं को अपने भीतर पोषण दे रहा है। मर्यादा और अनुशासन का कोई मूल्य नहीं है, वह मूल्यहीन है। वह केवल बंधन है। ऐसा बंधन जिसमें जीवन के सारे सुख और स्वतंत्रता कैद हो जाते हैं। क्या यह सोच सम्यक् है? क्या सचमुच मर्यादा बंधन है? आवश्यकता है इस प्रश्न पर गहनता से विचार करने की। वास्तव में मर्यादा एक सुरक्षा कवच है। मानवता का सुरक्षा कवच। इसका कार्य है—अनियंत्रित, अनियमित भौतिकवादी प्रवृत्तियों से जीवन की सुरक्षा करना।

किसी भी संस्था या संगठन के विकास का विधायक तत्त्व है उसके व्यवस्था पक्ष की मजबूती। व्यवस्था पक्ष जितना सबल और सशक्त होगा विकास की सीमाएं उतनी ही व्यापक बनती जाएंगी। व्यवस्था पक्ष की निर्बलता और अशक्तता विकास की संभावनाओं को मंद बना देती हैं। संस्था के निर्माण से पूर्व उसके व्यवस्था पक्ष को शक्ति-संपन्न बनाने की सोच निश्चित ही संस्था को दीर्घजीवी बना देती है। वह संस्था, वह संगठन केवल एक ढांचा मात्र है जिसके पास सुदृढ़ व्यवस्था तंत्र नहीं है। संस्था है, किंतु सक्रिय व्यवस्था तंत्र नहीं है तो उसके शक्ति-संपन्न और दीर्घायु होने की बात सोची ही नहीं जा सकती। मर्यादा और अनुशासन—ये दो तत्त्व हैं, जो व्यवस्था तंत्र को सुदृढ़ एवं शक्ति-संपन्न बनाते हैं। जिस संस्था में मर्यादा नहीं है, आत्मानुशासन नहीं है—वह एक खोखले नींव वाले भवन की तरह है जो कभी भी, किसी भी क्षण टूटकर गिर सकता है।

संस्था-बिखराव के कारण

अनेक संस्थाएं विभिन्न नामों और विभिन्न कार्य संचालन के लिए विकसित हो रही हैं। कुछ सामाजिक रुढ़ि उन्मूलन के लिए, तो कुछ सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए। कुछ शिक्षा-विकास के लिए, तो कुछ महिला सशक्तीकरण के स्वर को बुलंद करने के लिए। सबका अपना-अपना लक्ष्य है, अपना-अपना उद्देश्य है। करोड़ों का धन भी व्यय हो रहा है, किंतु ऐसी भी कई संस्थाएं हैं जो अपने-आप को स्थायित्व भी नहीं दे पा रही हैं। संस्था का निर्माण होता है, अस्तित्व में आती है और विकास की पहली सीढ़ी पर चढ़ने से पूर्व ही बिखर जाती है। अपनी अस्मिता को खो देती है। ऐसा क्यों होता है? हम इसके मूल कारण तक पहुंचकर उसकी खोज करें। कारण स्पष्ट हो जाएगा कि संस्था के निर्माण से पूर्व जो एकरूपता, कार्यशीलता और प्रत्येक कार्य में सहभागिता की भावना होती है, वह अल्प विकास काल में ही शिथिल हो जाती है। थोड़ा-सा विकास हुआ कि संगठन का हर सदस्य स्वयं को सर्वे-सर्वा मानने लगता है। और फिर अति महत्त्वाकांक्षाएं, पद-लिप्सा और स्वार्थी मनोवृत्ति उभरने लगती है। एकरूपता, कार्यशीलता और सहभागिता का संकल्प शीशे की तरह टूटकर रह जाता है। वैचारिक वैमनस्य और मानसिक अशांति उद्भूत हो जाती है। इन्हीं दुर्बलताओं के कारण संस्थाएं निस्तेज और निष्क्रिय बनती हैं।

और जहां आत्मानुशासन है, मर्यादा-निष्ठा है, वहां न वैचारिक विषमता को अवकाश मिलेगा और न अहं और ममकार की मनोवृत्ति ही हावी होगी। न गुरु और नेता बनने की इच्छा का प्रादुर्भाव होगा और न ही सत्ता हड़पने का मानस ही बनेगा। केवल एक शब्द होगा 'समर्पण'। मर्यादा की सीमा में रह रहे व्यक्ति के मन में गुरु और नेता बनने

की भावना आ ही नहीं सकती। उसके लिए महावीर का आर्ष वाक्य 'मेरं शरणं गच्छामि' ही जीवन का आश्रय-स्थल बन जाता है। वह कहता है, 'मैं मर्यादा की शरण में जाता हूं, मैं अनुशासन की शरण में जाता हूं।' मर्यादा और अनुशासन की शरण में जाने का हार्द है—स्पृहा, आकांक्षा और असंयमित प्रवृत्तियों को तिलांजली दे देना। जब स्पृहा, आकांक्षाएं, असंयमित प्रवृत्तियां समाप्त हो जाएंगी, इनका परिमार्जन, विशोधन और विमोचन हो जाएगा तो संस्था के शिखर तक आरोहण करने का मार्ग स्पष्ट और प्रशस्त होता चला जाएगा।

मर्यादा है तेरापंथ की व्यापकता का सूत्र

आचार्यश्री भिक्षु ने तेरापंथ का निर्माण किया। तेरापंथ अध्यात्मानुप्राणित संस्था है। एक ऐसी संस्था, एक ऐसा संगठन—जिसका पर्याय ही मर्यादा है और मर्यादा ही इसकी व्यापकता का मूलभूत तत्त्व है। आचार्यश्री भिक्षु की दृष्टि में जितना मूल्य आचार-निष्ठा का था उतना ही मूल्य था मर्यादा-निष्ठा का। इसी मर्यादा-निष्ठा का सशक्त प्रतीक और प्रमाण है आचार्यश्री भिक्षु द्वारा शताब्दी पूर्व लिखा गया मर्यादा पत्र। उस पत्र में लिखे गए वाक्य केवल वाक्य ही नहीं हैं, अपितु जीवन का समुचित निदर्शन हैं। जीने का विज्ञान हैं। तेरापंथ की प्राणवत्ता और दीर्घजीविता का रहस्य हैं। आचार्यश्री भिक्षु से किसी ने प्रश्न किया कि आपका यह तेरापंथ कब तक चलेगा? प्रश्न का समाधायक उत्तर देते हुए आचार्यश्री भिक्षु ने कहा, 'जब तक तेरापंथ में साधनारत साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं मर्यादा और अनुशासन को बहुमान देंगे, जब तक समर्पण का अस्तित्व रहेगा, तब तक तेरापंथ धर्मसंघ प्रवर्धमान रहेगा।' बहुत बड़ा यथार्थ छिपा हुआ है आचार्यश्री भिक्षु के इस कथन में। तेरापंथ में यदि मर्यादा-निष्ठा नहीं होती, अनुशासन और समर्पण नहीं होता तो संभवतः इसका जो आज उदितोदित रूप है—कभी न बन पाता।

क्या है तेरापंथ की मर्यादा

तेरापंथ आज जन-जन की चर्चा का विषय बन रहा है। इसकी पृष्ठभूमि में एक नेतृत्व, एक आचार और एक विचार का सिद्धांत ही कार्य कर रहा है। इसकी एकसूत्रता, एक आचार और वैचारिक एकता वर्तमान की उभरती संस्थाओं के लिए निश्चित ही एक आदर्श उदाहरण है। आचार्यश्री भिक्षु ने तेरापंथ के 'मर्यादा पत्र' का निर्माण करते समय जिस दूरदर्शी सोच का उपयोग किया वह उनके एक महान दार्शनिक और एक महान संस्थापक होने का सशक्त प्रमाण है। उन्होंने लिखा :

- ❒ सर्व साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।
- ❒ विहरण-चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करें।
- ❒ अपना शिष्य-शिष्या न बनाएं।
- ❒ परस्पर दल-बंदी न करें।
- ❒ पद के उम्मीदवार न बनें।

आचार्यश्री भिक्षु द्वारा आलेखित इन मर्यादाओं में न केवल तेरापंथ धर्मसंघ के उच्छ्वास का मंत्र है, अपितु स्वस्थ समाज के निर्माण का बीज मंत्र भी है। शायद इसी बीज मंत्र को केंद्र में रखकर स्व. जयप्रकाशनारायण ने आचार्यश्री तुलसी से एक वार्तालाप के दौरान तेरापंथ की मर्यादाओं को शत-प्रतिशत समाजवादी बताकर कहा था कि यदि ये मर्यादाएं लोकतंत्र पर लागू हो जाएं तो लोकतंत्र का कायाकल्प हो सकता है। कितना अच्छा होता कि जयप्रकाशजी की भावना का सम्मान होता। राजनीतिज्ञ इन मर्यादाओं पर चलने के लिए संकल्पबद्ध होते तो एक-दूसरे पर अवांछनीय शब्दों का उपयोग और कटक्ष के प्रयोग नहीं होते। एक-दूसरे को दबाने की मनोवृत्ति नहीं बनती। सांप्रदायिक उन्माद, घोटाला-कांड अनियंत्रित हिंसाएं नहीं होतीं। यदि कानून का स्थान मर्यादा को मिल जाता तो संभवतः ऐसी घटनाएं नहीं होतीं। सारा वातावरण संतुलित और सरस बन जाता। एक-दूसरे को सम्मान दिया जाता। योग्यता को मूल्य दिया जाता।

अंतर है मर्यादा और कानून में

कानून नियंत्रण का अभिप्रेरक है और मर्यादा नियंत्रण का समर्थक। फिर दोनों में भिन्नता जैसी बात क्या हो सकती है? भिन्नता है। धरती और आकाश जितनी भिन्नता। भिन्नता है आरोपण की। कानून आरोपित होता है, थोपा जाता है। किंतु मर्यादा में आरोपण और थोपने वाली बात कुछ भी नहीं होती। सब-कुछ हृदय से स्वीकृत होता है। न भय, न प्रलोभन, न आरोपण। कुछ भी नहीं। केवल केंद्र में रहती है तो आत्मा। एक आदमी चोरी करता है। डकैती, हत्या, बलात्कार करता है तो कानून उसे प्रताड़ित करेगा। आजीवन कैद या फांसी की सजा देगा। सैकड़ों-हजारों रुपए का जुर्माना होगा। दंडबल से परिवर्तन की बात सोची जाती है। दंडबल से एक बार दमन तो हो सकता है, मानस-परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वह केवल हृदय-परिवर्तन से संभव है। मर्यादा हृदय-परिवर्तन का महान सूत्र है। इसमें सारी भाषा हृदय-परिवर्तन की होती है। कोई गलत मार्ग पर प्रस्थित हो रहा है तो मर्यादा

कहेगी—अपने-आप पर नियंत्रण करो, स्वयं पर अनुशासन करो। जीवन को अधोगामिता की ओर मत धकेलो। अन्यथा तुम्हारा वर्तमान और भवितव्य—दोनों ही क्लेशमय बन जाएंगे। भीतरी संस्कार को बदलने की बात कहती है—मर्यादा। कानून डंडे से परिवर्तन चाहता है। यही कारण है अपराध की मनोवृत्ति चरम सीमा का स्पर्श कर रही है। जितने कानून बन रहे हैं, उनसे अधिक आपराधिक मनोवृत्ति बढ़ रही है। अपेक्षा है मर्यादा और कानून के अंतराल को पाटकर सामंजस्य की स्थापना करने की और मानवीय मूल्यों को जन्म देने की।

क्या मर्यादा बंधन है

वर्तमान जनमानस कुछ निषेधात्मक अवधारणाओं को अपने भीतर पोषण दे रहा है। मर्यादा और अनुशासन का कोई मूल्य नहीं है, वह मूल्यहीन है। वह केवल बंधन है। ऐसा बंधन, जिसमें जीवन के सारे सुख और स्वतंत्रता कैद हो जाते हैं। क्या यह सोच सम्यक् है? क्या सचमुच मर्यादा बंधन है? आवश्यकता है इस प्रश्न पर गहनता से विचार करने की। वास्तव में मर्यादा एक सुरक्षा कवच है। मानवता का सुरक्षा कवच। इसका कार्य है—अनियंत्रित, अनियमित भौतिकवादी प्रवृत्तियों से जीवन की सुरक्षा करना। जीवन के शब्दकोश से यदि मर्यादा शब्द का लोप कर दिया जाए अथवा हो जाए तो जीवन में प्राणवत्ता जैसी बात ही नहीं रहेगी। वह निष्प्राण बन जाएगा। इस स्थिति में मर्यादा को बंधन कैसे कहा जा सकता है? बंधन की परिभाषा मर्यादा से बहुत भिन्न है। बंधन वहां होता है जहां दूसरे के अस्तित्व को मिटाने का प्रयत्न होता है, स्वयं को उत्कृष्ट बताने का प्रयत्न होता है। मर्यादा में ऐसा किंचित भी नहीं होता। वहां एक-दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है, एक-दूसरे के अस्तित्व को सम्मान दिया जाता है। तेरापंथ की मर्यादा सहअस्तित्व की भावना का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आचार्यश्री भिक्षु ने मर्यादा की रचना करते समय संविभाग पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा, 'साधुता की दृष्टि से सभी साधु एक हैं। फिर एक को अति महत्त्व और दूसरे की उपेक्षा निश्चित ही पक्षपात-पूर्ण व्यवहार है। यह पक्षपात-पूर्ण व्यवहार संघ-विघटन का प्रमुख कारण बन सकता है। इसलिए तेरापंथ धर्मसंघ के विनीत साधु-साध्वियां संविभाग की भावना को वर्धमान बनाएं।' यह आचार्यश्री भिक्षु ने कहा। तेरापंथ आज भी बिना किसी विकल्प या अपवाद के आचार्यश्री भिक्षु के उस मार्ग का अनुगमन कर रहा है। आचार्य भिक्षु के संविभाग के स्वर आज भी तेरापंथ धर्मसंघ में परिलक्षित हो रहे हैं। एक मुनि आज का दीक्षित है और दूसरा पचास वर्ष से साधना कर रहा है, दोनों का समानाधिकार है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक विद्वान है, प्रबुद्ध है या दीक्षा-पर्याय में अग्रज है, तो सारी सुविधाएं उसे ही उपलब्ध हो जाएं और दूसरे ऐसे ही मुंह ताकते रह जाएं। हर वस्तु, हर पदार्थ की 'पांती' होती है। हर कार्य की बारी होती है। छोटे-से-छोटे कार्य, छोटी-सी वस्तु, हर कार्य, हर वस्तु का संविभाग होता है। आहार का संविभाग, पानी का संविभाग, वस्त्र का संविभाग, स्थान का संविभाग—सारा जीवन ही संविभागमय है। फिर मर्यादा-बंधन कहां है? स्वतंत्रता है—आत्मिक, मानसिक और चैतसिक स्वतंत्रता।

रामराज्य की कल्पना और मर्यादा

20वीं सदी की समस्याओं से प्रताड़ित युग 21वीं सदी में प्रवेश पाकर भी हिंसा, आतंक आदि से संत्रस्त है और कल्पना कर रहा है रामराज्य के पुनर्वतरण की। क्या संभव है रामराज्य का पुनः अवतरण? क्या संभव है उस शताब्दी से वर्तमान सदी का मिलन? एक गहरा प्रश्न है।

यदि तेरापंथ से कोई इस प्रश्न का समाधान चाहे तो एक सामयिक उत्तर होगा कि रामराज्य का पुनर्जन्म संभव ही नहीं, बहुत संभव है, बशर्ते भावना का रूपांतरण हो। संयम से अनुरक्ति और असंयम से विरक्ति हो। जीवन में मर्यादा का अवतरण हो। आज सारी समस्याएं असंयम और भौतिकवादी चिंतन के कारण व्याप्त हैं। जल-संकट, बिजली-कटौती, अकाल, गरीबी—सारी समस्याओं के पीछे भोगवादी मनोवृत्ति और अधिकार-हनन के भाव ही प्रतिबिंबित हो रहे हैं। इन परिस्थितियों में यदि रामराज्य की कल्पना, उसके पुनः अवतरण की बात की जा रही है और वैश्विक समस्याओं के समाधान खोजने, विश्वबंधुता को जगाने की अपेक्षा हो रही है तो बहुत जरूरी है कि महावीर के उस एक ही आर्ष वाक्य को सस्वर मुखर किया जाए—'मेरं शरणं गच्छामि'। ❖

संगीत और कला की उपासना करो और भावना के धर्म को उन्नत करो।

—डॉ. राधाकृष्णन्

कहानी

सवा सेर गेहूं

प्रेमचंद

❑

कहानी 'सवा सेर गेहूं' अपने समय के महान कथाशिल्पी प्रेमचंद की प्रमुख कथा-रचनाओं में से है। निरक्षरता और अंधविश्वासों के कारण किस तरह एक सीधा-भला आदमी कुचक्रों में फंस जाता है—कहानी में प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया गया है। यह कहानी जिस सामाजिक विद्रूपता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है, किसी-न-किसी रूप में आज भी समाज ऐसी विद्रूपताओं से आक्रांत है। इसीलिए बहुपठित यह कथा अपने पाठकों के लिए यहां प्रस्तुत है—

किसी गांव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में, न देने में। छक्का-पंजा न जानता था; छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी, ठगे जाने की चिंता न थी, ठग-विद्या जानता न था। भोजन मिला खा लिया, न मिला चबैने पर काट दी, चबैना भी न मिला तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा। किंतु जब कोई अतिथि द्वार पर आ जाता था तो उसे इस निवृत्तिमार्ग का त्याग करना पड़ता था। विशेषकर जब साधु-महात्मा पदार्पण करते थे तो उसे अनिवार्यतः सांसारिकता की शरण लेनी पड़ती थी। खुद भूखा सो सकता था, पर साधु को कैसे भूखा सुलाता? भगवान के भक्त ठहरे!

एक दिन संध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीतांबर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊं पैर में, ऐनक आंखों पर। संपूर्ण वेश उन महात्माओं का-सा था जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा और योगसिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते हैं। घर में जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता? प्राचीनकाल में जौ का चाहे तो कुछ महत्त्व रहा हो, पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध-पुरुषों के लिए दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिंता हुई, महात्माजी को क्या खिलाऊं? आखिर निश्चय किया कि कहीं से गेहूं का आटा उधार लाऊं, पर गांव-भर में गेहूं का आटा न मिला। गांव में सब मनुष्य थे, देवता एक भी न था, अतः देवताओं का पदार्थ कैसे मिलता? सौभाग्य से गांव के विप्र महाराज के यहां से थोड़े-से गेहूं मिल गए। उसने सवा सेर गेहूं उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्माजी ने भोजन किया, लंबी तानकर सोए। प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।

विप्र महाराज साल में दो बार खलिहानी किया करते थे। शंकर ने दिल में कहा—सवा सेर गेहूं इन्हें क्या लौटाऊं, पसेरी के बदले कुछ ज्यादा खलिहान दे दूंगा, यह भी समझ जाएंगे, मैं भी समझ जाऊंगा। चैत में जब विप्रजी पहुंचे तो उन्हें डेढ़ पसेरी के लगभग गेहूं दे दिया और अपने को उऋण समझकर उसकी कोई चरचा न की। विप्रजी ने फिर कभी न मांगा। सरल शंकर को क्या मालूम था कि यह सवा सेर गेहूं चुकाने के लिए उसे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा।

सात साल गुजर गए। विप्रजी विप्र से महाजन हुए, शंकर किसान से मजूर हो गया। उसका छोटा भाई मंगल उससे अलग हो गया था। एक साथ रहकर दोनों किसान थे, अलग होकर मजूर हो गए थे। शंकर ने चाहा कि द्वेष की आग भड़कने न पाए, किंतु परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया। जिस दिन अलग-अलग चूल्हे जले, वह फूट-फूटकर रोया। आज से भाई-भाई शत्रु हो जाएंगे, एक रोएगा तो दूसरा हंसेगा, एक

के घर मातम होगा तो दूसरे के घर गुलगुले पकेंगे। प्रेम का बंधन, खून का बंधन, दूध का बंधन आज टूटा जाता है। उसने भगीरथ परिश्रम से कुलमर्यादा का वृक्ष लगाया था, उसे अपने रक्त से सींचा था, उसको जड़ से उखड़ता देखकर उसके हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। सात दिनों तक उसने दाने की सूरत तक न देखी। दिन-भर जेठ की धूप में काम करता और रात को मुंह लपेटकर सो रहता। इस भीषण वेदना और दुस्सह कष्ट ने रक्त को जला दिया, मांस और मज्जा को घुला दिया। बीमार पड़ा तो महीनों तक खाट से न उठा। अब गुजर-बसर कैसे हो? पांच बीघे के आधे खेत रह गए, एक बैल रह गया, खेती क्या खाक होती! अंत को यहां तक नौबत पहुंची कि खेती केवल मर्यादा-रक्षा का साधनमात्र रह गई। जीविका का भार मजूरी पर आ पड़ा।

सात वर्ष बीत गए, एक दिन शंकर मजूरी करके लौटा, तो राह में विप्रजी ने टोककर कहा—शंकर, कल आ के अपने बीज बेंग का हिसाब कर ले। तेरे यहां साढ़े पांच मन गेहूं कब के बाकी पड़े हुए हैं और तू देने का नाम नहीं लेता, हजम करने का मन है क्या?

शंकर ने चकित होकर कहा—मैंने तुमसे कब गेहूं लिए थे जो साढ़े पांच मन हो गए? तुम भूलते हो, मेरे यहां किसी का न छटांक-भर अनाज है, न एक पैसा उधार।

विप्र—इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नहीं जुड़ता।

यह कहकर विप्र ने उस सवा सेर का जिक्र किया, जो आज से सात वर्ष पहले शंकर को दिया था। शंकर सुनकर अवाक् रह गया। ईश्वर! मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्होंने मेरा कौन-सा काम किया? जब पोथी-पत्रा देखने, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ-न-कुछ 'दक्षिणा' ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ! सवा सेर अनाज को अंडे की भांति से-कर आज यह पिशाच खड़ा कर दिया, जो मुझे निगल जाएगा। इतने दिनों में एक बार भी कह देते तो मैं गेहूं तौल कर दे देता, क्या इसी नीयत से चुप साधे बैठे रहे? बोला—महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानी में सेर-सेर, दो-दो सेर दिया है। अब आप साढ़े पांच मन मांगते हैं, मैं कहां से दूंगा?

किंतु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण—वह भी ब्राह्मण का—बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊंगा, इस खयाल से उसे रोमांच हो आया। बोला—महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूंगा, ईश्वर के यहां क्यों दें, इस जन्म में तो ठोकर खा ही रहा हूं, उस जन्म के लिए क्यों कांटे बोऊं। मगर यह कोई नियाव नहीं है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण होके तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता? मैं तो दूंगा, लेकिन तुम्हें भगवान के यहां जवाब देना पड़ेगा।

विप्र—लेखा जौ-जौ, बखसी सौ-सौ! तुमने जो-कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं। चाहे एक ही जगह चार पसेरी दे दो। तुम्हारे नाम बही में साढ़े पांच मन लिखा हुआ है, जिससे चाहो हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेंक दूं, नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।

शंकर—पांडे, क्यों गरीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नहीं, इतना गेहूं किसके घर से लाऊंगा?

विप्र—जिसके घर से चाहो लाओ, मैं छटांक-भर न छोड़ूंगा, यहां न दोगे, भगवान के घर दोगे।

शंकर कांप उठा। हम पढ़े-लिखे आदमी होते तो कह देते अच्छी बात है, ईश्वर के घर ही देंगे। वहां की तौल यहां से कुछ बड़ी तो न होगी। कम-से-कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, फिर उसकी क्या चिंता। किंतु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण—वह भी ब्राह्मण का—बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊंगा, इस खयाल से उसे रोमांच हो आया। बोला—महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूंगा, ईश्वर के यहां क्यों दें, इस जन्म में तो ठोकर खा ही रहा हूं, उस जन्म के लिए क्यों कांटे बोऊं। मगर यह कोई नियाव नहीं है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण होके तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता? मैं तो दूंगा, लेकिन तुम्हें भगवान के यहां जवाब देना पड़ेगा।

विप्र—वहां का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहां तो सब अपने ही भाई-बंधु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं, देवता भी ब्राह्मण हैं, जो कुछ बने-बिगड़ेगी, संभाल लेंगे। तो कब देते हो?

शंकर—मेरे पास रखा तो नहीं, किसी से मांग-जांचकर लाऊंगा तभी न दूंगा!

विप्र—मैं यह न मानूंगा। सात साल हो गए, अब एक दिन का भी मुलाहिजा न करूंगा। गेहूं नहीं दे सकते, दस्तावेज लिख दो।

शंकर—मुझे तो देना है, चाहे गेहूं लो, चाहे दस्तावेज लिखाओ। किस हिसाब से दाम रखोगे?

विप्र—बाजार भाव पांच सेर का है, तुम्हें सवा पांच सेर का काट दूंगा।

शंकर—जब दे ही रहा हूं तो बाजार-भाव काटूंगा, पाव-भर छुड़ाकर क्यों दोषी बनूं।

हिसाब लगाया तो गेहूं का दाम साठ रुपये हुए। साठ रुपये का दस्तावेज लिखा गया, तीन रुपये सैकड़े सूद। साल-भर में न देने पर सूद का दर साढ़े तीन रुपये सैकड़े, बारह आने का स्टांप, एक रुपया दस्तावेज की तहरीर शंकर को ऊपर से देनी पड़ी।

गांव-भर ने विप्रजी की निंदा की, लेकिन मुंह पर नहीं। महाजन से सभी को काम पड़ता है, उसके मुंह कौन आए।

शंकर ने साल-भर कठिन तपस्या की। मीयाद के पहले रुपया अदा करने का उसने व्रत-सा कर लिया। दोपहर को पहले भी चूल्हा न जलता था, चबैने पर बसर होती थी, अब वह भी बंद हुआ। केवल लड़के के लिए रात को रोटियां रख दी जातीं। पैसे रोज का तंबाकू पी जाता था। यही एक व्यसन था जिसका वह कभी त्याग न कर सका था। अब वह व्यसन भी इस कठिन व्रत के भेंट हो गया। उसने चिलम पटक दीं, हुक्का तोड़ दिया और तंबाकू की हांड़ी चूर-चूर कर डाली। कपड़े पहले ही त्याग की चरम सीमा तक पहुंच चुके थे, अब वह प्रकृति की न्यूनतम रेखाओं में आबद्ध हो गए। शिशिर की अस्थि-बेधक शीत को उसने आग ताप कर काट दिया। इस ध्रुव-संकल्प का फल आशा से बढ़कर निकला। साल के अंत में उसके पास साठ रुपये जमा हो गए। उसने समझा, पंडितजी को इतने रुपये दे दूंगा और कहूंगा, महाराज, बाकी रुपये भी जल्द ही आपके सामने हाजिर करूंगा। पंद्रह रुपये की तो और बात है, क्या पंडितजी इतना भी न मानेंगे? उसने रुपये लिए और ले जाकर पंडितजी के चरण-कमलों पर अर्पण कर दिए। पंडितजी ने विस्मित होकर पूछा—किसी से उधार लिए क्या?

शंकर—नहीं महाराज, आपके असीस से अबकी मजूरी अच्छी मिली।

विप्र—लेकिन यह तो साठ रुपये ही हैं!

शंकर—हां, महाराज, इतने अभी लीजिए, बाकी दो-तीन महीने में दूंगा, मुझे उरिन कर दीजिए।

विप्र—उरिन तो तभी होंगे जब मेरी कौड़ी-कौड़ी चुका दोगे। जाकर मेरे पंद्रह रुपये और लाओ।

शंकर—महाराज, इतनी दया करो, अब सांझ की रोटियों का भी ठिकाना नहीं है, गांव में हूं तो कभी-न-कभी दे ही दूंगा।

विप्र—मैं यह रोग नहीं पालता, न बहुत बातें करना जानता हूं। अगर पूरे रुपये न मिलेंगे तो आज से साढ़े तीन रुपये सैकड़े का ब्याज लगेगा। अपने रुपये चाहे अपने घर में रखो, चाहे मेरे यहां छोड़ जाओ।

शंकर—अच्छा, जितना लाया हूं, उतना रख लीजिए। जाता हूं। कहीं से पंद्रह रुपए और लाने की फिक्र करता हूं।

शंकर ने सारा गांव छान मारा, मगर किसी ने रुपये न दिए, इसलिए नहीं कि उसका विश्वास न था, या किसी के पास रुपया न था, बल्कि इसलिए कि पंडितजी के शिकार को छेड़ने की किसी में हिम्मत न थी।

क्रिया के पश्चात् प्रतिक्रिया नैसर्गिक नियम है। शंकर साल-भर तक तपस्या करने पर जब ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका तो उसका संयम निराशा के रूप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतना कष्ट सहने पर भी साल-भर में साठ रुपये से अधिक जमा न कर सका तो अब और कौन-सा उपाय है जिसके द्वारा उससे दूने रुपये जमा हों। जब सिर पर ऋण का बोझ ही लदना है तो क्या मन का और क्या सवा मन का। उसका उत्साह क्षीण हो गया, मेहनत से घृणा हो गई। आशा उत्साह की जननी है, आशा में तेज है, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक शक्ति है। शंकर आशाहीन होकर उदासीन हो गया। वह जरूरतें जिनको उसने साल-भर तक टाल रखा था, अब द्वार पर खड़ी होने वाली भिखारिणी न थीं, बल्कि छाती पर सवार होने वाली पिशाचिनियां थीं जो अपनी भेंट लिए बिना जान नहीं छोड़तीं। कपड़ों में चकतियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शंकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता। कभी कपड़े लाता, कभी खाने को कोई वस्तु। जहां पहले तंबाकू ही पिया करता था, वहां अब गांजे और चरस का चस्का भी लगा। उसे अब रुपये अदा करने की कोई चिंता न थी, मानो उसके ऊपर किसी का एक पैसा नहीं आता। पहले जूड़ी चढ़ी होती थी, पर वह काम करने अवश्य जाता था। अब काम पर न जाने के लिए बहाना खोजा करता।

इस भांति तीन वर्ष निकल गए। विप्रजी महाराज ने एक बार भी तकाजा न किया। वह चतुर शिकारी की भांति अचूक निशाना लगाना चाहते थे। पहले से शिकार चौंकाना उनकी नीति के विरुद्ध था।

एक दिन पंडितजी ने शंकर को बुलाकर हिसाब दिखाया। साठ रुपये जो जमा थे वह मिनहा करने पर भी शंकर के जिम्मे एक सौ बीस रुपये निकले।

शंकर—इतने रुपये तो उसी जन्म में दूंगा, इस जन्म में नहीं हो सकते।

विप्र—मैं इसी जन्म में लूंगा। मूल न सही, सूद तो देना ही पड़ेगा।

शंकर—एक बैल है, वह ले लीजिए; एक झोंपड़ी है, वह ले लीजिए और मेरे पास क्या रखा है?

विप्र—मुझे बैल-बधिया लेकर क्या करना है। मुझे देने को तुम्हारे पास बहुत-कुछ है।

शंकर—और क्या है महाराज?

विप्र—कुछ नहीं है—तुम तो हो। आखिर तुम भी कहीं मजूरी करने जाते ही हो, मुझे भी खेती के लिए मजूर रखना ही पड़ता है। सूद में हमारे यहां काम किया करो, जब सुभीता हो मूल दे देना। सच तो यों है कि अब तुम किसी दूसरी जगह काम करने नहीं जा सकते, जब तक मेरे रुपये नहीं चुका दो। तुम्हारे पास कोई जायदाद नहीं है, इतनी बड़ी गठरी मैं किस एतबार पर छोड़ दूं। कौन इसका जिम्मा लेगा कि तुम मुझे महीने-महीने सूद देते जाओगे? और कहीं कमाकर जब तुम मुझे सूद भी नहीं दे सकते, तो मूल की कौन कहे?

शंकर—महाराज, सूद में तो काम करूंगा और खाऊंगा क्या?

विप्र—तुम्हारी घरवाली है, लड़के हैं, क्या वे हाथ-पांव कटा के बैठेंगे। रहा मैं, तुम्हें आध सेर जौ रोज कलेवा के लिए दे दिया करूंगा। ओढ़ने को साल में एक कंबल पा जाओगे, एक मिरजई भी बनवा दिया करूंगा, और क्या चाहिए? यह सच है कि और लोग तुम्हें छह आने रोज देते है, लेकिन मुझे ऐसी गरज नहीं है, मैं तो तुम्हें अपने रुपये भराने के लिए रखता हूं।

शंकर ने कुछ देर तक गहरी चिंता में पड़े रहने के बाद कहा—महाराज, यह तो जन्म-भर की गुलामी हुई।

विप्र—गुलामी समझो, चाहे मजदूरी समझो। मैं अपने रुपये भराए बिना तुमको कभी न छोडूंगा। तुम भागोगे तो तुम्हारा लड़का भरेगा। हां, जब कोई न रहेगा तब की दूसरी बात है।

इस निर्णय की कहीं अपील न थी। मजूर की जमानत कौन करता? कहीं शरण न थी, भागकर कहां जाता? दूसरे दिन उसने विप्रजी के यहां काम करना शुरू कर दिया। सवा सेर गेहूं की बदौलत उम्र-भर के लिए गुलामी की बेड़ी पैरों में डालनी पड़ी। उस अभागे को अब अगर किसी विचार से संतोष होता था तो यह था कि यह मेरे पूर्वजन्म का संस्कार है। स्त्री को वे काम करने पड़ते थे, जो उसने कभी न किए थे, बच्चे दानों को तरसते थे, लेकिन शंकर चुपचाप देखने के सिवा और कुछ न कर सकता था। गेहूं के दाने किसी देवता के शाप की भांति आजीवन उसके सिर से न उतरे।

शंकर ने विप्रजी के यहां बीस वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस दुस्सार संसार से प्रस्थान किया। एक सौ बीस रुपये अभी तक उसके सिर पर सवार थे। पंडितजी ने उस गरीब को ईश्वर के दरबार में कष्ट देना उचित न समझा, इतने अन्यायी नहीं, इतने निर्दय वे न थे। उसके जवान बेटे की गरदन पकड़ी। आज तक वह विप्रजी के यहां काम करता है। उसका उद्धार कब होगा? होगा भी या नहीं? ईश्वर ही जाने।

पाठक, इस वृत्तांत को कपोलकल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है। ❖

अध्यात्म का चरमोत्कर्ष : रहस्य....पृष्ठ 38 का शेष

उनके चिंतन का क्षितिज है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को विभिन्न भाषाओं व विधाओं के माध्यम से अवतरित किया है। उनका रचना-संसार रहस्यवाद के आलोक से उद्भासित है, मानवीय मूल्यों से संप्रेषित और समलंकृत है।

आज के इस संघर्षशील युग में मानव का जितना अधिक कल्याण रहस्यवाद कर सकता है, उससे अधिक कल्याण की आशा अन्य किसी प्रकार संभव नहीं। रहस्यवाद की कल्याणकारिणी क्षमता का अनुमान कर एक आलोचक ने लिखा है—'विश्व-हित, विश्व-बंधुत्व एवं विश्व-प्रेम का आदर्श जितनी सत्यता के साथ एक रहस्यवादी व्यक्त कर सकता है, उतना संभवतः कोई और नहीं।'

किंतु फिर भी आज रहस्यवाद विश्व-वांग्मय से उठ रहा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैसे अगाध ज्ञानी व आत्मदर्शी व्यक्ति ही रहस्यवाद की सुघड़, सहज, संयत भाषा में प्रस्तुति एवं अध्यात्म के सभी अनुभवों की बुद्धिगम्य प्रायोगिक व्याख्या उपस्थित कर रहस्यवाद को इस जगत में बनाए रख सकते हैं। ❖

नेमिचन्द्र जैन की कविताएं

•

क्या है सच

क्या है सच
क्या वही जो दीखता है?
जैसे, आसमान का नीलापन
अथाह
बारिश की हरियाली
लुभावनी
क्या वही जो होता है अनुभव
लगातार दिन-रात
जैसे बुढ़ापे के साथ-साथ
बढ़ती बेबसी अशक्तता
जोड़-जोड़ ढीला
मानो अलग होता
क्या वही सच है

या सच है वह भी, जो
है अगोचर
इंद्रियों की पहुंच के बाहर
जैसे शून्य अंतरिक्ष का
दुर्गम दुर्बोध
लहलहाते अंकुर के बीज में ही
मुद्रित चरम विघटन
अदृश्य
पर अटल अनिवार्य

और वह भी जो
भगाए लिए जाता है
काया की सीमा को लांघ
जन्म-जरा-मरण की
सरहद के
अस्तित्व के भी परे
क्या वह सच नहीं है?

क्या है सच?

•

व्याख्या

एक दिन कहा गया था
दुनिया की व्याख्या बहुत हो चुकी
जरूरत उसे बदलने की है
तब से लगातार
बदला जा रहा है
दुनिया को
बदली है अपने-आप भी
पर क्या अब यह नहीं लगता
कि और बदलने से पहले
कुछ
व्याख्या की जरूरत है?

•

परिभाषा

निस्तब्ध समर्पित मन की अभिलाषा क्या है?
बंदी के अंतर में रीती आशा क्या है?
अनगिनती तागे उलझे हैं जाने कब से
इस उलझन की क्या जाने परिभाषा क्या है?

•

चट्टानें

मैं जूझ रहा चट्टानों से अपने मन की
पड़ रहीं अनवरत चोटें जीवन के घन की
हो उठे प्राण उद्दीप्त एक अभिलाषा से
है चाह न मुझको आज किसी आश्वासन की। ❖❖

शीलन

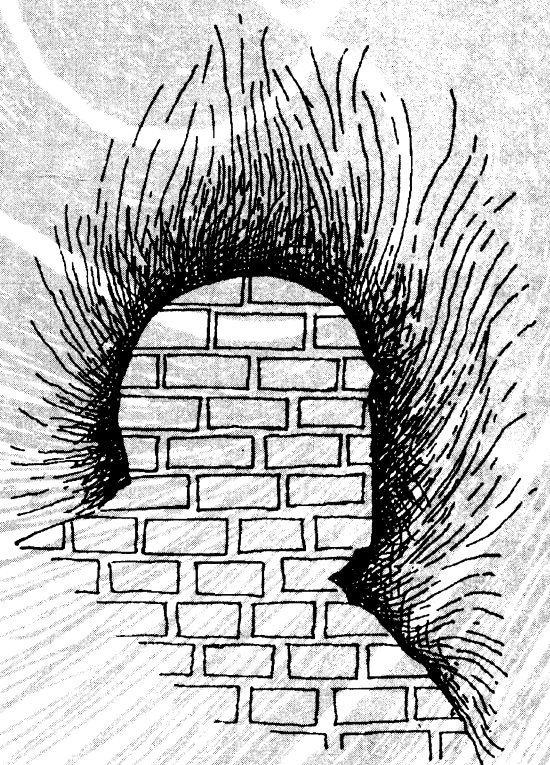

कुशल वितर्कों की सहायता से अकुशल वितर्कों पर विजय प्राप्त कर ली जाए तो भी जब तक धार्मिक व्यक्ति के मन में निर्भयता उत्पन्न नहीं हुई है तब तक उसे तत्त्व-बोध होना असंभव है। डाकू या सैनिक अपने विरोधियों पर हिम्मत के साथ टूट पड़ते हैं, परंतु उनमें निर्भयता थोड़ी ही होती है। वे शस्त्रास्त्रों से चाहे जितने लैस क्यों न हों, फिर भी भयभीत रहते हैं। वे सोचते हैं, न जाने हमारे शत्रु हम पर कब धावा बोल देंगे। अतः उनकी निर्भीकता सच्ची नहीं होती। अध्यात्म-मार्ग से जो निर्भीकता मिलती है वह सच्ची है।

—धर्मानन्द कोसम्बी

'भगवान् बुद्ध जीवन और दर्शन' से

उन्मुक्त आकाश : अपरिमेय शक्ति

साध्वी कनकयशा

❑

संसार में चल रहे अनैतिकता के माहौल में नैतिकता की दीपशिखा प्रज्वलित करने वाले लौह पुरुष आचार्य भिक्षु ने अपने प्रातिभज्ञान के द्वारा तेरापंथ को उन्मुक्त आकाश में विचरण की अपरिमेय शक्ति प्रदान की। सत्यशोध की प्रवृत्ति में निरंतर गतिशील चरण है—'तेरापंथ'। अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला है—'तेरापंथ'। आचार-विचार की शुद्धि की मूलभित्ति है—'तेरापंथ'। आचार्य भिक्षु की काल्पनिक एवं मस्तिष्कीय उपज ने कलम एवं कागज पर जो चिह्न अंकित किया—वह है 'तेरापंथ'।

भारत की वसुंधरा ऋषिप्रधान है। भारतीय संस्कृति में दो प्रकार की पद्धतियों का प्रचलन है—प्रथम : श्रमण संस्कृति, द्वितीय : वैदिक संस्कृति। दोनों ही संस्कृतियों में अनेक पर्व, उत्सव मनाए जाते हैं। पर्व, उत्सव क्यों मनाए जाते हैं? यह प्रश्न अनेक बार मस्तिष्क में उठता है। बहुत चिंतन, मंथन एवं निदिध्यासन के बाद समाधान मिलता है कि उत्सवों के माध्यम से व्यक्ति अपने उत्साह को अभिव्यक्त तो करता ही है, साथ ही साथ नई सोच, नए विचारों, नई स्फुरणा को जन्म भी देता है। उत्सवों के माध्यम से सृजनात्मक एवं रचनात्मक शक्ति का प्रस्फुटन भी होता है।

'तेरापंथ' शब्द के पीछे जुड़ा है आचार्य भिक्षु का बलिदान एवं तपोमय जीवन। आचार्य भिक्षु का लक्ष्य नहीं था कि मैं नए संप्रदाय का प्रवर्तन करूं। 'वे तो अकेले ही चले थे, काफिला बनता गया।' ज्योंही शब्द सामने आया 'तेरापंथ', प्रत्युत्पन्न मेधा से संपन्न आचार्य भिक्षु पट्ट से नीचे उतर वंदना करते हुए बोले—'हे प्रभो! यह 'तेरा पंथ' है, मेरा नहीं।' मैं तो बस इस पथ का राही हूं। सहिष्णुता की पराकाष्ठा में पहुंच आचार्य भिक्षु ने तपोमय जीवन जीया। पांच-पांच वर्ष तक आहार-पानी की असुविधा को भी हंसते-हंसते सहा। कंटीले मार्ग पर चल कांटों को सहा, दुत्कारें सहीं। हर क्षण आपका यही चिंतन रहता—

फौलादी हैं सीने अपने फौलादी हैं चाहें।
हम चाहें तो पैदा कर दें, चट्टानों में राहें॥

आचार्य भिक्षु का मूल लक्ष्य था आत्मोद्धार करना, पर वे पर-कल्याणार्थ भी निरंतर प्रयत्नशील रहते थे। रात-रातभर जागते, जिज्ञासा का समाधान देते एवं संस्कारों को परिपुष्ट करने में रत रहते थे। संयम, तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्मिक उत्थान के कार्यों के प्रति वे पल-पल जागरूक रहते थे।

आचार्य भिक्षु का जीवन संघर्षों की अकथ कहानी है। जहां-कहीं चरण चलते, विरोधों का पारावार उमड़ पड़ता। पर विधेयात्मक चिंतन से आपने हर विरोध को विनोद माना। अभिशाप को आशीर्वाद मान अपने चरणों को गति देते रहे। वे अविचल, अडोल थे। भिक्षु कष्टों से किंचित घबराए नहीं, परिस्थितियों का बाना उन्हें कभी नहीं पहनना पड़ा। इसलिए लिखा है उनके बारे में—

अलब्धेऽप्याहारे सुमतिरचलन्नो क्षणमपि,
न लब्धं सुस्थानं तदपि पथि नीते स्थिरमतिः।
न कष्टं तत्कष्टं भवति यदि चित् स्पष्टमुदिता,
प्रसन्नात्मा भिक्षुर्नयनमवतारं नयतु मे॥

संसार में चल रहे अनैतिकता के माहौल में नैतिकता की दीपशिखा प्रज्वलित करने वाले लौह पुरुष आचार्य भिक्षु

ने अपने प्रातिभज्ञान के द्वारा तेरापंथ को उन्मुक्त आकाश में विचरण की अपरिमेय शक्ति प्रदान की। सत्यशोध की प्रवृत्ति में निरंतर गतिशील चरण है—'तेरापंथ'। अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला है—'तेरापंथ'। आचार-विचार की शुद्धि की मूलभित्ति है—'तेरापंथ'। आचार्य भिक्षु की काल्पनिक एवं मस्तिष्कीय उपज ने कलम एवं कागज पर जो चिह्न अंकित किया—वह है 'तेरापंथ'। स्वामी भीखणजी ने तेरापंथ के लिए लिखित रूप में सर्वप्रथम संवत् 1832 मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी को मर्यादाएं बनाईं। वह दिन तेरापंथ के संविधान निर्माण का प्रथम दिन था। धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार मर्यादाएं बनती रहीं। स्वामीजी द्वारा निर्मित अंतिम मर्यादा सं. 1858 माघ शुक्ला सप्तमी को हुई।

स्वामीजी ने गण की एकता और पवित्रता को बनाए रखने के लिए कर्तव्य, अकर्तव्य, विधि-निषेध की सीमा स्थापित की, जिसे 'मर्यादा' नाम से अभिहित किया गया। प्रश्न उपस्थित हुआ मर्यादा है क्या? एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की, एक समाज दूसरे समाज की एवं एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की स्वतंत्रता न छीने, इसी का नाम है मर्यादा। मर्यादा वह सरिता है जिसमें आचार का निर्मल जल सतत प्रवाहित होता रहता है। मर्यादा वह मार्ग है जो व्यक्ति को आकाशीय ऊंचाइयों तक पहुंचा देता है। मर्यादा संयममय जीवन जीने की शैली का नाम है। उच्छृंखलता पर अंकुश की लगाम है 'मर्यादा'। विनम्रता और सहिष्णुता मर्यादा के सुरक्षाकवच हैं। मन के घोड़े की लगाम के वशीकरण का महामंत्र है 'मर्यादा'।

समय के प्रबंधन का नाम है 'मर्यादा।' मर्यादा वह मशाल है, जो जिंदगी को जगमग कर देती है। मर्यादा वह ऊष्मा है जो शीतकाल की ठंडी बयार को भी सहन कर सके। आचार्य भिक्षु के पदचिह्नों का उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी अनुसरण किया। जयाचार्य ने इसे प्रतिष्ठित करने में अपने अमूल्य समय एवं शक्ति का नियोजन कर क्रांतिकारी कदम उठाए। जयाचार्य अप्रतिम प्रतिभा के धनी थे। आपके मन में कुछ नया करने की ललक रहती थी। आपने आचार्य पद पर पदासीन होते ही तेरापंथ धर्मसंघ में नए कीर्तिमान स्थापित किए। पुस्तकों का संघीकरण, गाथा प्रणाली, आहार संविभाग, श्रम का सम विभाजन, गण विशुद्धिकरण, हाजरी, साध्वियों के सिंघाड़े की व्यवस्था, तीन महोत्सव (पट्टोत्सव, चरमोत्सव एवं मर्यादा महोत्सव), साध्वीप्रमुखा पद की नियुक्ति—इत्यादि अनेक उल्लेखनीय कार्य प्रज्ञापुरुष जयाचार्य के शासनकाल में सम्यक् प्रकारेण निष्पन्न हुए।

मर्यादा के सूत्रधार जयाचार्यश्री ने गौरवपूर्ण आधार पर इस पर्व का नामकरण 'मर्यादा महोत्सव' किया। माघ महीने में मनाए जाने के कारण इसका दूसरा नाम 'माघ महोत्सव' भी प्रचलित है। 'मर्यादा महोत्सव' का जो निखरा रूप आज हमें दिखाई देता है, उसका प्रारंभ संवत् 1921 माघ शुक्ला सप्तमी को बालोतरा में हुआ। महोत्सव की विधिवत घोषणा से पहले भी माघ महीने में साधु-साध्वियां एकत्र होते, जयाचार्य उन्हें शिक्षाएं देते और उनका गुणोत्कीर्तन करते। दूरदर्शिनी दृष्टि से जयाचार्य ने अकल्पनीय कार्य प्रारंभ कर समाज के सामने अनुशासन-प्रियता की विजय-पताका फहराई।

चातुर्मास समाप्ति के साथ ही साधु-साध्वियां गुरु दिशा की ओर (रोगी, वृद्ध, ग्लानादि के अतिरिक्त) प्रस्थान कर देते हैं। गुरु-दर्शन की ललक चरणों में तीव्र गति ला देती है। लगभग मिंगसर मास के अंत में दूरस्थ साधु-साध्वियों को छोड़ प्रायः सभी दर्शन कर ही लेते हैं। दो महीने गुरुसेवा का सुअवसर पा पाथेय पाते हैं। उस समय आचार्यश्री स्वयं सारणा-वारणा करते हैं, प्रति ग्रुप तथा व्यक्ति को समय प्रदान करते हैं; स्वास्थ्य एवं ज्ञान, दर्शन, चारित्राराधना के बारे में अवगति लेते हैं। विशिष्ट कार्य करने वालों को पुरस्कृत करते हैं एवं संघ की अवहेलना हो, वैसा कार्य करने वालों को प्रायश्चित्त दिलाते हैं जो गण-विशुद्धि के लिए अत्यावश्यक है। आचार-विचार की शुद्धता, सामंजस्य एवं सौहार्द का आकलन कर उपदेशामृत फरमाते हैं—जिससे संघ की गतिशीलता अक्षुण्ण रहती है।

तब से अब तक के महोत्सवों ने आकाशीय ऊंचाइयों को छू लिया है। महोत्सव बड़े ही उल्लास के साथ मनाया जाता है। यह ऐसा समय है जिस समय आचार्यश्री द्वारा साधु-साध्वियों के चातुर्मासिक क्षेत्र की नियुक्तियां भी होती हैं, जो सबके आकर्षण का केंद्र-बिंदु होता है।

'मर्यादा महोत्सव' के अवसर पर एक दिन 'बड़ी-हाजरी' निश्चित ही होती है। दीक्षाक्रम से साधु-साध्वियां खड़े होकर समवेत स्वर में लेखपत्र का वाचन करते हैं, सिद्धांतों एवं मर्यादाओं को समाज के सम्मुख दोहराते हैं। 'महोत्सव' का मुख्य दिन सप्तमी का होता है। आचार्यश्री स्वयं शासन-प्रणाली को सबके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं और आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित वह 'मर्यादा-पत्र' जनता को दिखाया जाता है। शब्दावली के एक-एक शब्द को गहराई से समझाया जाता है। 'मर्यादा महोत्सव' के सुअवसर पर आचार्यश्री एक नवीन गीत की रचना कर संगान करते ही हैं। आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित मर्यादा

महोत्सव के गीतों का गुंफन 'नंदन निकुंज' के रूप में हमें उपलब्ध है। गीत के स्वर प्राणी-मात्र में निनादित होते ही रहते हैं।

वर्तमान योगीराज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी भी मर्यादा महोत्सव के दिन गीत का संगान करते हैं। गीत इतना सरस होता है, जो सबके आकर्षण का बिंदु बनता है। तेरापंथ धर्मसंघ के एक गुरु, एक आचार और एक विचार की विशुद्ध प्रणाली का नाम ही है 'मर्यादा महोत्सव'। नई चेतना को झंकृत करने का शंखनाद है यह महोत्सव। मर्यादा अमृत है, फल-फूलों से लदा उपवन है एवं कल्याण का मार्ग है। आत्मसंयम का द्वीप है, शरण है, गति है, प्रतिष्ठा है और कहूं कि जीवन-प्राण है तो वह है—मर्यादा। कल्पना को मूर्तरूप देने का अप्रतिम पौरुष है—*'महोत्सव'*।

अस्तु, हम आध्यात्मिक उत्थान के लिए महोत्सव की सार्थकता को जानें और नव उल्लास के साथ चरणों को गति दें। ❖

अणुव्रत क्रांति विशुद्ध नैतिक उपक्रम है। व्यक्ति के आचार-पक्ष को सुदृढ़ बनाना इसका उद्देश्य है। इसकी यह मान्यता है कि आचार और विचार दोनों अन्योन्याश्रित होते हुए भी आचार की प्रधानता रहती है। आचारहीन विचारों में वह संकल्प-शक्ति नहीं होती जो जीवन में आवश्यक होती है। 'शिवसंकल्पमस्तु मे मनः'—यह साधना की वाणी है। इसका उत्स अध्यात्म है। अध्यात्म और आचार एक है। आचार व्यक्तिनिष्ठ होता है। समूह उसकी प्रयोगभूमि है। जब बहुत सारे व्यक्ति उस आचार में विश्वास करने लगते हैं या उसमें पलने लग जाते हैं तब वह व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ता नजर आता है। परंतु उसकी सफलता का मूल्यांकन समष्टिनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ होना चाहिए, अन्यथा दुहरी भूल हो जाती है। एक तो आंकने की और दूसरी मिथ्याभिनिवेश की। इससे बचना चाहिए।

यह सही है कि वही आंदोलन सफल होता है जो समूह के द्वारा अधिष्ठित है। ऐसे आंदोलनों का व्यापक प्रभाव भी पड़ता है। परंतु जो आंदोलन केवल कुछेक व्यक्तियों में पनपे, वह सफल नहीं हो सकता।

आंदोलन की सफलता का एक मंत्र है कि वह समूह को आकृष्ट करे। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्तियों से समूह की ओर बढ़ रहा है। बहुत सारे लोग इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। बहुत-से लोग इसमें आए हैं और आ रहे हैं। इसकी यह एक विशेषता है कि इसमें आने वाला प्रत्येक व्यक्ति इसमें अपने ही धर्म-दर्शन को देखता है। उसे विभिन्नता मालूम नहीं देती। इसीलिए वह उसी में रच-पच जाता है। क्रियात्मक रूप से आंदोलन जनव्यापी नहीं बना है, परंतु उसका भावात्मक रूप समष्टिगत हो चुका है।

व्यक्ति निर्द्वंद्व नहीं होता। विचारों का द्वंद्व सदा चलता है। पुराने विचारों को वह सहसा छोड़ नहीं सकता और नए विचारों में अपने-आप को ढाल भी नहीं सकता। स्थिति कुछ गंभीर बनती है और वह लड़खड़ा जाता है। ऐसी भावनाएं उत्पन्न करनी होती हैं, जिनसे कि उसको सही संतोष हो सके। यह कार्य 'आंदोलन' के द्वारा ही संभव हो सकता है।

—मुनि दुलहराज

बालकथा

पिता की सीख

यदुनाथ थत्ते

❑

श्याम को लगा कि आज तक तो मेरी कोई बात पिताजी को पसंद नहीं आई, लेकिन अंत में मेरी ही जीत हुई। न मुझे मेहनत से जी चुराने के लिए फटकारा, और न कुछ कहा। काशी-यात्रा का अवसर ही क्यों न हो, लेकिन आखिर मेरे बर्ताव की नुक्ताचीनी नहीं की। उल्टे बर्ताव को समर्थन ही दिया। आदमी को भगवान कभी सदबुद्धि अवश्य देता है।

एक था नगर। नगर का नाम था आटपाट नगर। नगर में रहता था एक किसान। उसका नाम था होरीराम। होरी बड़ा मेहनती किसान था। चोटी से एड़ी तक पसीना बहाकर किसानी करता था। उसके लहलहाते खेतों को देखकर आस-पास वाले, खुश होकर उससे सलाह-मशविरा करने आते थे।

होरीराम हरेक को सलाह देता था। कहता था, 'ज्ञान एक ऐसी वस्तु है कि जो देने से घटती नहीं। लोगों को सलाह देने में मेरा कुछ भी नुकसान नहीं होता। ज्ञानदान से जी चुराना बड़ी भूल है।'

होरीराम के इस रुख से लोग बड़े संतुष्ट थे।

होरीराम की एक ही संतान थी, पुत्र। उसका नाम उसने बड़े प्यार से श्याम रखा था।

श्याम इकलौता बेटा होने के कारण प्यार-दुलार में पला था। लेकिन होरीराम को कुछ ही वर्षों में अपनी भूल महसूस होने लगी।

श्याम काम करने से सदा जी चुराता। इतना ही नहीं, अब वह दलीलें भी देने लगा था।

होरीराम जब मेहनत की बात करता तो श्याम कह देता, 'आपके पिताजी गरीब थे सो आपसे मेहनत करवाते थे। मेरे पिताजी थोड़े ही गरीब हैं जो मैं मेहनत करूं।'

ऐसे लड़के से कहा जाए तो क्या कहा जाए?

होरीराम ने बहुत कोशिश की—श्याम को समझाने की, लेकिन वह समझना चाहे तब न? आदमी घोड़े को पानी तक तो ले जा सकता है, लेकिन पानी पीने को बाध्य थोड़े ही कर सकता है।

होरीराम अपनी तकदीर को कोसता। उसको लगता कि सोये हुए को तो जगाया जा सकता है, लेकिन सोने का स्वांग करने वाले को कैसे जगाया जाए?

श्याम बोलने में बड़ा माहिर हो गया था, हरेक बात पर वह अपना बयान देकर समय बर्बाद करता था।

होरीराम उससे तंग आ गया। उसको चिंता होने लगी कि मेरे पीछे इस लड़के का क्या होगा? मैं हूं तब तक उसको रोटी की चिंता नहीं होगी, लेकिन मैं कोई अमरपट्टा लेकर तो आया नहीं हूं? किसी दिन मृत्यु मंडराएगी तो उसको लौटा तो नहीं पाऊंगा? अच्छा है कि अपनी आंखों के सामने ही जो होना है, हो जाए।

जब शब्द निकम्मे साबित होने लगते हैं तो कोई दूसरी तरकीब ही सोचनी पड़ती है।

वह अब काशी-यात्रा की बातें करने लगा। किसी से रास्ता पूछता, तो किसी से अन्य बातें। उसको लग रहा था कि इन बातों से लड़का संकेत पाएगा, लेकिन नहीं—लड़के को लग रहा था कि काशी-यात्रा की बातें तो बहुत-सारे लोग करते हैं, लेकिन जाता शायद ही कोई है। 'काशी को जाना नित्य कहना' वाली नीति तो हर-कोई अपनाता है।

होरीराम ने जाने की सचमुच तैयारी की। अपने सगे- संबंधियों को बुलाया, मित्रों को निमंत्रित किया और कहा—'भाई, बात काशी-यात्रा की है। न जाने मैं वापस आ पाऊंगा या नहीं। अभी ही आप से विदाई लेना अच्छा है।'

लोग मना भी कैसे करते? सिर्फ उसको हिदायतें देते थे। स्वास्थ्य का खयाल रखना, अधिक कष्ट नहीं उठाना। भोजन के बारे में सावधानी रखना। किसी भी स्थान का पानी उबालकर ही पीना।

कुछ लोगों ने उसको कुछ दवाइयां भी दीं।

काशी-यात्रा के लिए प्रस्थान करने की तिथि आ गई।

लोग उसको विदा करने नदी तक गए। पुत्र भी साथ में हो लिया।

नदी के इस पार पहुंचने पर होरीराम बैलगाड़ी से उतरा। लोगों की आंखें डबडबा आईं। अगली यात्रा पैदल करनी थी। अपना बोझ सिर पर ले जाना था। कुछ विचित्र-सा लग रहा था।

आखिर पुत्र को पास बुलाकर उसका आलिंगन कर—होरीराम ने उसकी पीठ थपथपाई और फिर सबसे मुखातिब होकर कहा—'मेरा श्याम प्यार-दुलार में आज तक पला है। मैं गांव वालों से प्रार्थना करता हूं कि अब आप ही को उसका मां-बाप बनना है। उसकी देखभाल करनी है। आप ही के भरोसे उसे छोड़े जा रहा हूं। फिर चिंता किस बात की?'

फिर श्याम से सबके सामने कहा, 'बेटा श्याम, मैं जा रहा हूं, लेकिन जाते समय एक संदेश देकर जाता हूं। उस पर चलने से तुम्हारा कल्याण होगा। देखो—छांव में आना, छांव में जाना। गांव-गांव घर बनाना। मीठा करके खाना और आराम से सोना। बस।'

सबको प्रणाम करके होरीराम रवाना हुआ।

श्याम को लगा कि आज तक तो मेरी कोई बात पिताजी को पसंद नहीं आई, लेकिन अंत में मेरी ही जीत हुई। न मुझे मेहनत से जी चुराने के लिए फटकारा, और न कुछ कहा। काशी-यात्रा का अवसर ही क्यों न हो, लेकिन आखिर मेरे बर्ताव की नुक्ताचीनी नहीं की। उल्टे बर्ताव को समर्थन ही दिया। आदमी को भगवान कभी सद्‌बुद्धि अवश्य देता है।

घर पर वापस चलते हुए वह पिताजी के अंतिम शब्द दुहरा रहा था।

छांव में जाना, छांव में आना। गांव-गांव में घर बनाना। मीठा करके खाना और आराम से सोना...

इसको दुहराते हुए कब घर पहुंचा, इसका पता ही उसको न चला।

घर आने पर उसको लगा कि जो हो, पिताजी के कहने पर पूरा अमल करना चाहिए।

घर में आते ही एक नौकर को हलवाई की दूकान दौड़ाया मिठाइयां खरीदने के लिए। क्योंकि पिताजी ने कहा था—मीठा करके खाना। यहीं से प्रारंभ क्यों न हो। पुरखों ने कहा ही तो है कि कल करे सो आज कर आज करे सो अभी...

उसका कहना ही था कि नौकर मिठाइयों के टोकरे भर लाया। एक-एक मिठाई को देखकर उसके मुंह में पानी भर आया। जलेबी थीं, लड्डू थे, गुलाबजामुन थे, मलाई थी, बरफी थीं, पेड़े थे। बस, और क्या चाहिए।

नौकरों को फिर दौड़ाया। कहा, 'जाओ, अच्छी मुलायम गद्दियां खरीद लाओ और पलंग पर बिछा दो, पिताजी ने कहा है—आराम से सोना। पिताजी की आज्ञा को कहीं अच्छा पुत्र कभी तोड़ता है क्या? जाओ जल्दी, भागते जाओ, नहीं तो घोड़े पर सवार होकर जाना।'

नौकर रवाना हो गए और उसने खाना शुरू किया। खाता ही जाता था, खाता ही जाता था। तब तक गद्दियों को लेकर नौकर लौटे।

जब खाया जाना असंभव हुआ, तब वह वहां से उठा। हां, उठते हुए नौकरों से कहा—'दूसरे समय के

भोजन के पहले और मिठाइयां लेकर आना, वरना पिताजी की अवज्ञा होगी।'

फिर गद्दी पर लेट गया।

पेट इतना भरा था कि उससे न सोया जा रहा था, न बैठा।

कभी उठकर गद्दी पर लौटता था, कभी लेटता था। फिर उठता था।

बहुत कोशिश करने पर लेट तो सका, लेकिन नींद नहीं आ रही थी।

आज किया क्या जाए? पिताजी ने तो आराम से सोने को कहा है और इधर तो नींद नहीं आती। खैर नींद नहीं तो न सही, लेट तो सकते हैं—आंखें बंद कर। कौन जानता है कि मैं सो रहा हूं या जाग रहा हूं।

गद्दी पर लेटे-लेटे सोच रहा था। पिताजी ने कहा है—गांव-गांव में घर बनाना। उसने मुनीमजी को बुलावा भेजा। कहा—'मुनीमजी, तिजोरी से चाहे जितने पैसे ले लो और गांव-गांव में घर बनवा दो। आखिर पिताजी की अंतिम इच्छा को भला कौन तोड़ सकता है।'

मुनीमजी ढेर सारे पैसे लेकर घर बनवाने निकल पड़े। देखा तो एक गांव के बाद दूसरा, दूसरे के पीछे तीसरा, तीसरे के पीछे चौथा...गांव न जाने कितने हैं और इसमें घर बनवाने पर न जाने कितना खर्च करना होगा। लेकिन आगे-आगे बढ़ते ही गए।

दूसरे दिन सुबह उठा तो देखता क्या है। सूरज कब का निकल चुका है। अभी-अभी सर पर चढ़ आएगा। अब सारे आसमान को थोड़े ही छांव के लिए ढका जा सकता है? तो श्याम ने सोचा, घर पर ही बैठे रहना चाहिए। वह घर पर बैठा रहा।

दिन आते गए, जाते गए। श्याम का यही कार्यक्रम चल रहा था। दिन-भर मीठा खाते-खाते अब मीठे का स्वाद ही चला गया। कभी लगता था, कहीं कै न हो जाए? लेकिन पिताजी की आज्ञा को तोड़ता कैसे?

गद्दी पर लेटे तो रहता था, लेकिन नींद नदारद।

सुबह-सुबह नींद लगने के कारण फिर घर के बाहर ही निकल न पाता था। आखिर पिताजी ने कहा था न कि छांव में आना, छांव में जाना। अब आदमी जाए तभी आए न? इधर छांव में जाना ही नहीं हो रहा तो आना क्या खाक होगा?

अब उसको लग रहा था, क्या यह भी जिंदगी है? मीठा, मीठा नहीं लग रहा। लेटते-लेटते घंटों बीत जाएं, लेकिन नींद का नाम नहीं। घर के बाहर जाना भी असंभव।

अब मन-ही-मन पिताजी को कोसने लगा। अपने से कहता—'जब यहां थे, उनकी बातें नहीं सुनता था। अब सुनना चाहता हूं तो यह हालत। आखिर पिताजी ने खूब सजा दी।

मुनीमजी दो हफ्ते बाद वापस आए। कहने लगे—'गांव-गांव में घर बनाना कोई खिलवाड़ थोड़ा ही है। एक के बाद एक गांव आते ही हैं। गांव में घर बनाने निकले तो कुबेर का भी दिवाला निकल जाए। श्याम बाबू, बताइए अब क्या करना है?'

श्याम बाबू भी तो तंग आ गए थे। कहा—'देखो भैया, अपने से तो पिताजी की आज्ञा का पालन नहीं हो रहा। अब किया क्या जाए? उनकी आत्मा को कितनी परेशानी होगी यह देखकर कि मैं था, तब भी मेरी बात नहीं मानी, अब नहीं हूं तब भी मानता नहीं है। हे राम, क्या किया जाए?'

मुनीमजी ने कहा, 'ऐसा करें तो?'

श्याम ने अधीरता से पूछा, 'बताओ, बताओ क्या करना है?'

मुनीमजी ने कहा, 'होरीराम की दलपतराम से गहरी दोस्ती थी। उन्हीं को क्यों न सलाह के लिए बुलाया जाए?'

श्याम ने कहा—'वाकई तुम बुद्धिमान हो। यह बात तो मेरे दिमाग में भी न आई। पिताजी ने आखिर उनको भी तो कहा था, हमारी देखभाल करने को। जाओ जल्दी जाओ...नहीं तो ऐसा करो, गांव के सभी लोगों को बुला लाओ। आखिर वे सब भी तो मेरे कल्याणेच्छुक हैं।'

मुनीमजी ने ढिंढोरा पिटवाया तो रात में सब लोग श्याम के घर आ गए। उन्होंने सोचा कि शायद श्याम को किसी बड़ी मुसीबत ने घेर लिया है।

श्याम ने अपनी कठिनाई बताई और दलपतराम चाचा से पूछा, 'चाचाजी, आप ही बताइए क्या किया जाए? मैं तो तंग आ गया हूं।'

दलपतराम चाचा बोले—'अरे श्याम बाबू, पिताजी की जिंदगी को याद करो। बड़े नेक किसान थे। जो अपने जीवन में कभी उन्होंने न किया हो वह तुमसे कहते भी कैसे?'

श्याम ने कहा—'आपकी बात सही है। इसको मैं भूल ही गया था?'

चाचा ने कहा—'तुम्हारे पिताजी क्या मिठाइयां खाकर ही जीते थे?'

श्याम ने कहा—'किसी बड़े त्यौहार के दिन मिठाई खा ली तो खा ली वरना रोज की रोटी खाते हुए ही कहते थे कि क्या मीठी लग रही है रोटी। मानो अमृत है अमृत।'

चाचा ने पूछा—'और भी तो कुछ कहते होंगे न?'

श्याम ने कहा, 'कहा करते थे कि बड़ी मेहनत के बाद जो रोटी मिले वह मिठाई से भी मीठी लगती है और इधर एक मैं हूं, जिसको मिठाई भी अब मीठी नहीं लगती।'

चाचा ने पूछा—'क्या तुम्हारी तरह वे गद्दियों का ढेर लगाकर सोते थे?'

श्याम ने कहा—'बड़ी आश्चर्य की बात है कि खेत के किनारे किसी वृक्ष की छाया में भूमि का बिछौना और पत्थर का सिरहाना बनाकर लेटते और गहरी-गहरी नींद सोते। घर में भी एक कंबल बिछाकर उस पर ही सोते। नींद के बारे में कभी कोई शिकायत नहीं। मानो निद्रादेवी ने उनको वरदान ही दिया था...और इधर एक हूं मैं, जिसकी रातें करवटें बदलते-बदलते ही कटती हैं।'

चाचा ने पूछा—'तो ऐसा क्योंकर होता होगा?'

श्याम ने कहा—'मां कहती थी कि इस तरह मेहनत करने से ही निद्रादेवी प्रसन्न हुआ करती है। वह मुझसे बार-बार कहती कि खूब मेहनत करने पर ही आराम से कहीं भी नींद आ जाती है।'

चाचा ने पूछा—'तुम कभी अपने पिताजी के साथ में आसपास के गांवों में गए थे?'

श्याम ने कहा—'जी हां, कितनी ही बार गया हूं?'

चाचा ने पूछा—'तब लोग उनकी आवभगत कैसी करते थे?'

श्याम ने कहा—'उनकी बड़ी इज्जत करते। कहते, 'होरीरामजी, घर आप ही का है। आइए, बिराजिए।'

चाचा ने पूछा—'तो क्या हरेक गांव में उनके घर नहीं बने थे?'

श्याम ने कहा—'जी हां, बने थे ऐसा ही कहना होगा।'

चाचा ने कहा—'और एक तुम हो जो थैलियां लेकर मुनीम को घर खरीदने भेजते हो।'

श्याम ने कहा—'जी हां, एक मैं हूं कि जिसको लग रहा है कि पैसे के बल-बूते पर घर बनाए जा सकते हैं। प्रेम की बिना पर ही घर बनते हैं और प्रेम न हो तो पैसे से बने घर भी उजड़ जाते हैं।'

चाचा ने पूछा—'पिताजी ने और क्या कहा था?'

श्याम बोला—'पिताजी ने कहा था—छांव में जाना छांव में आना। लेकिन इधर एक मैं हूं जो सोचता हूं आसमान की छांव के ढकने की बात है और ढक न पाने पर घर में ही दिन काटता हूं।'

चाचा ने पूछा—'लेकिन पिताजी क्या करते थे?'

श्याम बोला—'पिताजी तो मुर्गे की बांग सुनते ही उठकर बिछौना लपेटते और अपने काम निपटाकर पौ फटने के पहले ही खेत पर चले जाते। छांव में जाना छांव में आने का मतलब मैं गलत समझ बैठा था। सूरज निकलने के पहले मुझे खेत में जाने को तथा सूरज डूबने के बाद घर वापस आने का संदेश पिताजी के जीवन से मुझे सीखना चाहिए था। खैर...'

चाचाजी बोले—'पिताजी के जीवन को भूलकर तुम उनके शब्दों को पकड़ बैठे और इसीलिए गुमराह

हो गए। जीवन के संदर्भ में ही शब्द को समझना चाहिए।'

श्याम ने सबको वंदन किया और कहा—'आपको कष्ट दिया इसके लिए मैं क्षमा चाहता हूं। पिताजी सीधी-सी बात कहते थे तो मैं बौखला उठता था। लेकिन काशी-यात्रा के लिए रवाना होते हुए पिताजी ने जो संदेश दिया, वह कुछ अजीब-सा अवश्य लगा—'

छांव में जाना, छांव में आना। गांव-गांव में घर बनाना। मीठा करके खाना और आराम से सोना।

मुझे लग रहा था कि पिताजी मेरी बात को समझ गए, लेकिन आखिर अपनी ही बात उन्होंने मेरे गले उतारी।

श्याम ने उसी दिन से अपने जीवन में सुधार किया और वह सुखी हो गया। हम सब भी उसी तरह सुखी हों। ❖

हमारी एकता की भावना और हमारे लक्ष्यों के प्रति हमारी लगन को सबसे ज्यादा खतरा उन विचारकों से है जो जनता को विभाजित करना चाहते हैं। भारतीय संविधान ने सभी नागरिकों को संपूर्ण बराबरी का हक दिया है। अब चिंता का विषय यह है कि धार्मिक स्वरूप को धार्मिक भावनाओं पर लादने की कोशिश की जा रही है। हम अपनी विरासत के लिए धर्म की जगह सांस्कृतिक संदर्भ क्यों नहीं विकसित कर सकते, जो हम सभी को भारतीय बनाने के लिए कार्य करेगा। समय आ गया है कि हम भेदभाव करना बंद करें। हमें आज राष्ट्र के लिए ऐसी दृष्टि की जरूरत है जो एकता ला सके।

जब हम भारत को उसके गौरव के साथ, उसके अतीत को आधार मानकर स्वीकार करेंगे तभी हम शांति और समृद्धि से भरपूर, सभी के लिए एक समान भविष्य की उम्मीद रख सकते हैं, जहां सृजन होगा और संपन्नता होगी। हमारा अतीत हमेशा हमारे साथ है। इसे संभालकर रखना है, न कि राजनीतिक उठापटक के चलते नष्ट कर देना है।

विकसित भारत शहरों का राष्ट्र नहीं होगा। वह समृद्ध गांवों का एक तंत्र होगा, जो दूर-चिकित्सा (टेली मेडिसिन), दूर-शिक्षा (टेली एजुकेशन) और ई-कॉमर्स-संपन्न होगा। जैव प्रौद्योगिकी, जैव विज्ञान तथा कृषि विज्ञान और औद्योगिक विकास से ही नए भारत का उदय होगा। राजनीतिक नेता इस उत्साही भावना को लेकर काम करेंगे कि राष्ट्र का स्थान व्यक्तिगत हितों और राजनीतिक पार्टियों से ऊपर है। यह दृष्टिकोण ग्रामीण-शहरी विभेद को कम से कमतर करेगा, क्योंकि देहातों में भी प्रगति होगी और शहरी आबादी प्रकृति के बेहतरीन उत्पाद की संपदा का लाभ उठाने के लिए ग्रामीण इलाकों में प्रवास करेगी।

—ए. पी. जे. अब्दुल कलाम
भारत के राष्ट्रपति

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

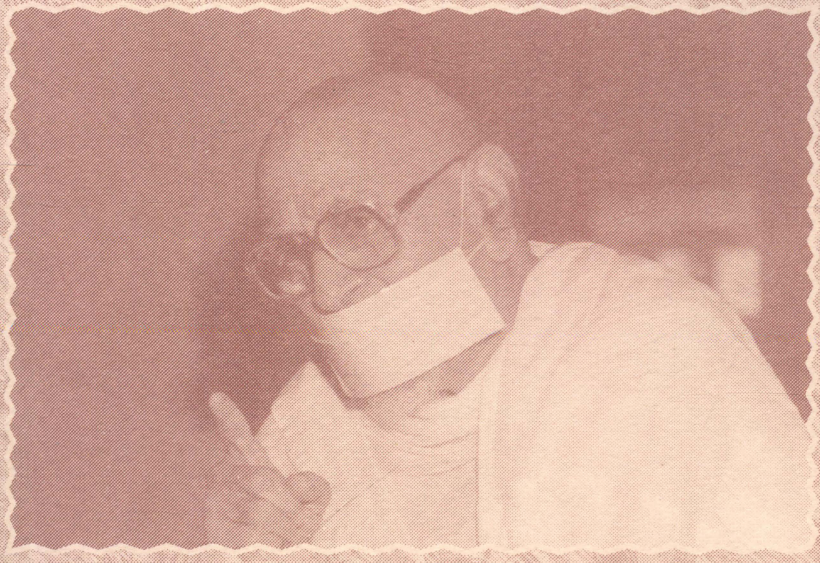

हेमराज श्यामसुखा

विनीत टैक्सटैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

Bearing is not our only business.

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926 / 0640, Fax - 22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।